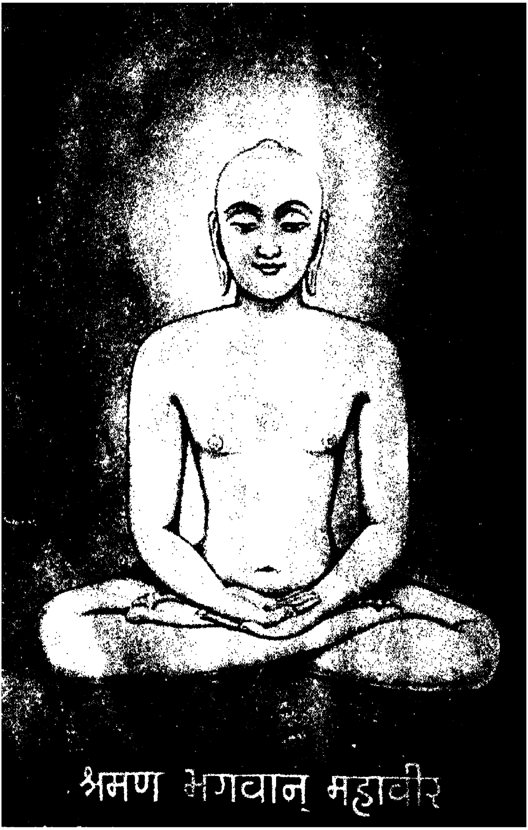


श्रमण भगवान् महावीर

संस्कृत अनुवादके साथ

महावीर–वाणी

मानतीय श्री विनोबा भावे के दो शब्द

और

डॉ. भगवान्दासकी

प्रस्तावनाके साथ

: सम्पादक :

बेचरदास दोशी



भारत जैन महामण्डल, वर्धा

[मार्च १९५२]

सुगणाबाई बड़जाते जैन ग्रन्थमाला—४

(दिल्ली सस्तासाहित्य मंडल)
पहली बार; मूल और अनुवाद के साथ २०००
(वर्धा भारत जैन महामंडल)
दूसरी बार मात्र अनुवाद १९४२ १०००
तीसरी बार मार्च १९५० २०००
चौथी बार मार्च १९५३ २०००

मूल्य : सवा दो रुपये

प्रकाशक:
जमनालाल जैन
प्रबन्ध मंत्री
भारत जैन महामंडल, वर्धा

मुद्रक:
परमेष्ठीदास जैन
जैनेन्द्र प्रेस
ललितपुर (उ० प्र०)

समर्पण

सौ० श्रीमती अजवाली को—

जिनकी सप्रेम सहचारिता के बिना

साहित्य-क्षेत्र में

मैं कुछ भी नहीं कर सकता—

सादर समर्पण

—बेचरदास

विषय-सूची

प्रकाशक की ओर से

पहली बार 'महावीर-वाणी' सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली की ओरसे जनवरी सन् १९४२ में प्रकाशित हुई थी। उसके बाद महामण्डल की ओर से, सुगणाबाई ग्रन्थमाला के अन्तर्गत ही, इसका केवल हिन्दी अनुवाद-अंश प्रकाशित किया और प्रायः अमूल्य ही वह वितरित हुआ।

अब यह पुस्तक अपने पूर्व और पूर्ण रूप में सम्पादक और प्रकाशक की अनुमतिपूर्वक प्रकाशित की जा रही है— यह हमारे लिये प्रसन्नता की बात है।

इस महंगाई में भी मूल्य में अधिक वृद्धि नहीं की गई है। हम चाहते हैं कि इस 'वाणी' का घर-घर में प्रचार हो।

सुगणाबाई-ग्रन्थमाला श्री. चिरंजीलाल जी बड़जाते की माँ की स्मृति में चल रही है और यह उसका चौथा पुष्प है। इसकी बिक्री से प्राप्त होनेवाली रकम से यथा-शक्ति दूसरे प्रकाशन भी भेंट किए जा सकेंगे।

आशा है, इस पुस्तक का समाजमें यथोचित आदर और उपयोग होगा। दृष्टि-दोष से यदि कुछ अशुद्धियाँ रह गई हों तो कृपया पाठक सुधार लें।

पन्ना भुवन, भुसावल
वीर जयन्ती, २४७६
ता० ३१ मार्च १९५०

फकीरचन्द पन्० जैन
प्रबन्ध मंत्री
भारत जैन महामण्डल

पुनश्च—

तीन वर्ष के बाद 'महावीर-वाणी' का तीसरा संस्करण प्रकाशित हो रहा है।

इस बार 'महावीर-वाणी' में सम्पादक ने कुछ संशोधन किए हैं। 'विवाद-सूत्र' निकालकर 'जाति-मद-निवारण सूत्र' दिए गए हैं तथा कुछ गाथाएं, निकाल दी गई हैं।

पाठकों की सुविधा के लिए पुस्तक का हिन्दी अनुवाद-अंश अलग से छापा गया है। प्राकृत और संस्कृत में रुचि न रखने वालों के लिए यह संस्करण उपयोगी होगा।

पुस्तक पं० परमेष्ठीदास जी के जैनेन्द्र प्रेस में छपी है। उनका जो सम्बन्ध है वह व्यावसायिकता से ऊपर है। उन्होंने छपाई के सम्बन्ध में पर्याप्त दिलचस्पी ली है और शुद्ध छपाई का ध्यान रखा है। हम छपाई के काम को झाड़ू देने का काम समझते हैं। कितना भी बारीकी से देखा जाय, कुछ न कुछ गलतियाँ—अशुद्धियाँ रह जाती हैं। जो हो; भाई परमेष्ठीदास जी को धन्यवाद देना अपनी ही प्रशंसा करने जैसा होगा।

वर्धा
१५ मार्च, ५३

—जमनालाल जैन

संपादकीय

'महावीरवाणी' नी आ जातनी आ त्रीजी आवृत्ति गणाय. प्रथम आवृत्ति २००० नकल दिल्ली-सस्तासाहित्य मंडळ द्वारा प्रकाशित थयेली.

पछी मूळगाथा विनानो केवळ हिन्दी अनुवाद (१००० नकल) भाई श्रीचिरंजीलालजी बडजातेए पोतानां मातुश्रीना स्मरणमां वर्धाथी छपावेलो.

भाईश्री चिरंजीलालजी बडजाते सद्गत श्री. जमनालालजी बजाजना विशेष संपर्कमां आवेला जैन-धर्मपरायण एक सज्जन भाई छे. वर्धामां रहे छे अने यथाशक्ति जनसेवामां तत्परता बतावी रह्या छे. महावीरवाणी द्वारा मारो एमनी साथे स्नेहयुक्त मधुर गाढ परिचय थई गयो छे. मूळ अने हिन्दी अनुवादवाळुं आ प्रस्तुत प्रकाशन तेमणे पोतानां मातुश्रीना स्मरणमां प्रकाशित करवा सारु मारे तत्परता दाखवी छे. ते अर्थे तेमनुं अहीं नामस्मरण सविशेष उचित छे. आ भाई भारत जैन महामंडळना सविशेष कार्यकर छे.

ત્યારબાદ મૂળ સાથેની અનુવાદવાળી બીજી આવૃત્તિ (૨૦૦૦ નકલ) ભારત જૈન મહામંડળના કાર્યાધ્યક્ષ ભાઈશ્રી રિષભદાસ રાંકાજીએ પોતાની ઉક્ત સંસ્થા દ્વારા પ્રકાશિત કરેલી.

આ પ્રસ્તુત આવૃત્તિ (૨૨૦૦ નકલ) પણ એ જ સંસ્થા (ભારત જૈન મહામંડલ) ભાઈશ્રી ચિરંજીલાલજી બડજાતેની સહાયતા દ્વારા છાપીને પ્રકાશિત કરી રહી છે.

પ્રકાશક સંસ્થાના પ્રાણરૂપ ભાઈ રાંકાજીનો પરિચય મને વીસાપુર જેલમાં ૧૯૩૦ માં થયેલ છે. તેઓ ત્યાં સત્યાગ્રહી તરીકે એક કે બે વરસની જેલ લઈને આવેલા. ધર્મચર્ચાને નિમિત્તે મારો અને એમનો સવિશેષ પરિચય થઈ ગયો. આ ભાઈ હમણાં હમણાં પોતાનો બધો સમય રાષ્ટ્રસેવા અને ભારત જૈન મહામંડળની સાર્વજનિક પ્રવૃત્તિઓમાં રોકી રહ્યા છે. માનનીય શ્રી. વિનોબાજીની અહિંસામૂલક ભૂદાન યજ્ઞની સર્વોદયી પ્રવૃત્તિમાં એમને વિશેષ રસ છે. આ ભાઈ પણ વર્ધામાં રહે છે અને તેથી જ વર્ધામાં વસેલા સંતકોટિના મહાનુભાવો સદ્‌ગત શ્રી. કિ. ઘ. મશરૂવાળા, નિર્વાણ પામેલા પૂ. બાપુજી વગેરેના સંપર્કમાં રહેનારા છે. વર્ધા નિવાસને કારણે અને સદ્‌ગત જમનાલાલજીની ગોસેવા-પ્રવૃત્તિમાં વિશેષ રસ હોવાને લીધે તેઓ માનનીય શ્રી. વિનોબાજીના પણ વિશેષ સંપર્કમાં છે.

मारो अने एमनो जेलनिवास दरमियान थयेलो स्नेहसंपर्क महावीरवाणीने निमित्ते आज सुधी एवो ने एवो चालु रहेल छे—विशेष सुमधुर गाढ बनेल छे. आ भाईने महावीरवाणी प्रत्ये निर्व्याज प्रेम छे तेने लीधे ज तेओए माननीय विनोबाजीपासेथी आ पुस्तक विशे विशेष सूचन मागेलुं, एने परिणामे आ पुस्तकमां थोडी वधघट थयेली छे अने पाछळ संस्कृत अनुवादनो उमेरो पण थयेल छे. तथा आ वाणी माटे माननीय विनोबाजीना खास सूचक 'बे शब्दो,' सुद्धां मळी शक्या छे.

आ माटे हुं भाई रांकाजीनो सविशेष आभारी छुं अने राष्ट्रसेवानी असाधारण प्रवृत्तिमां रोकायेला होवा छतां श्री. विनोबाजीए 'महावीरवाणी' प्रत्ये जे पोतानो सद्भाव व्यक्त करी बताव्यो छे ते माटे तेमनो पण सविशेष आभार मानवानुं अहीं जतुं करी शकाय एम नथी.

आ वखते माननीय डो. भगवानदासजीए पोते खास नवी प्रस्तावना लखी मोकली छे एटलुं ज नहीं पण तेमणे सर्व धर्म समभावनी दृष्टिए अने पोते खरेखर समन्वयवादी छे ए भावनाने लीधे नवी प्रस्तावनामां तेमणे महावीरवाणी प्रत्ये पोतानो असाधारण लागणो प्रगट करेल छे अने जैन बंधुओनी उदारता बाबत असाधारण विश्वास बताववा साथे

महावीरवाणीना प्रचार माटे पोतानो अंगत अभिप्राय पण दर्शावेल छे.

आथी खास आशा बंधाय छे के तटस्थ डॉ. भगवानदासजीनां वचनोनी जैन समाज जरूर कदर करशे. महावीरवाणी प्रत्ये डोक्टर महाशयनी लागणी बदल अहीं हुं तेमनो पण सविशेष आभार मानुं छुं.

१९४२ थी १९५३ सुधीमां मूळ अने अनुवाद साथेनी महावीरवाणीनी त्रण आवृत्तिओ थई गणाय अने जो तेमां केवळ हिंदी अनुवादवाळी आवृत्तिने मेळवीए तो चार आवृत्तिओ पण थई गणाय. आम एकंदर बार वर्षना गाळामां आ पुस्तकनी सात हजार नकलो प्रजामां पहोंची कहेवाय.

आवा विषम समयमां ज्यां अहिंसा अने सत्यना माग तरफ प्रजानां मन [illegible]गतां देखाय छे अने ज्यारे लोको—भगवान महावीरना अनुयायी लोको पण त्यांसुधी य मानवा लाग्या छे के व्यवहारमां सत्य अने अहिंसानो मार्ग नहीं ज चाली शके, ए तो मंदिरमां के सभामां बोली बतावनानो मार्ग छे. एवे कपरे काळे आ पुस्तकनी सात हजार नकलो बार वर्षना य गाळामां गई ते पुस्तकनुं अहोभाग्य ज कहेवाय.

सौथी प्रथम आवृत्ति वखते भाई मानमलजी गोलेच्छा (जोधपुर-जीवनवाळा) ए आर्थिक सहायता

आपी मने पोतानो ऋणी बनावेल ते माटे ते भाईनुं नामस्मरण अवश्य करी लउं छुं.

पहेली आवृत्ति वखते हुं अमदावादमां, डो. भगवानदासजी बनारसमां; आटलुं लांबुं अंतर होईने तेओ तत्काल प्रस्तावना लखी मोकले ए कठण हतुं, परंतु मारा उपरना निर्व्याज स्नेहने लीधे ए काम भाई गुलाबचंद जैन (वर्तमानमां अध्यक्ष श्री महावीर भवन पुस्तकालय अने वाचनालय दिल्ली ६) सारी रीते प्रयास करीने पण बजावी शक्या छे एटले ए स्वजननुं पण नाम संकीर्तन अहीं जरूर करी लउं छुं.

आ उपरांत मारा स्नेही कवि मुनिश्री अमरचंदजी, पंडित सुखलालजी, भाई दलसुखभाई (बनारस हिन्दु युनिवर्सिटी) तथा भाई शांतिलालजी (ब्यावर गुरुकुळ मुद्रणालय)नो पण आ प्रवृत्तिमां मने जे सहकार मळ्यो छे ते भूली शकाय तेम नथी.

आ बधा महानुभावोनो पण हुं जरूर ऋणी छुं.

गुजरात युनिवर्सिटीए आ पुस्तकने इन्टरआर्टना प्राकृतभाषाना अभ्यासक्रममां योजेलुं छे ते माटे ए संस्थानो तेम ए संस्थाना संचालकोनो पण अहीं आभार मानवो जरूरी छे अने डो. भगवानदासजीए पण पोतानी प्रस्तावनामां ए संस्थाने अभिनंदन पाठवेल छे.

छेल्ले भाई जमनालालजी जैन ('जैनजगत'

ना सहकारी संपादक) तथा आ पुस्तकना मूळ तथा हिन्दी अनुवादना मुद्रक भाई परमेष्ठीदासजी जैन (मालीक जैनेन्द्र प्रेसः ललितपुरः उत्तरप्रदेश) ए बन्ने महाशयोए आ पुस्तकना मुद्रणमां जे भारे दिलचस्पी बतावेल छे ते माटे तेमनो बन्नेनो हुं सविशेष आभारी छुं.

अहीं आ बाबत खास जणाववी जोईए के जो आ बन्ने भाईओए पुस्तकना मुद्रण-संशोधन माटे दिलचस्पी न लीधी होत तो मुद्राराक्षसना प्रभावने लीधे पुस्तकने अंते आपेल शुद्धिपत्रक केटलुं य लांबुं थई गयुं होत.

डॉ. भगवानदासजीए पोतानी प्रस्तावनामां जणावेल छे के प्रस्तुत आवृत्तिना कागळ सारा नथी अने तेनुं समर्थक कारण पण पोते ज समजावेल छे. तेम हुं पण अहीं आ वात नम्रपणे जणाववानी रजा लउं छुं के प्रस्तुत पुस्तकमां मूळ गाथाओनुं अने अनुवादनुं मुद्रण मनपसंद नथी छतां महावीर वाणी प्रत्ये सद्भाव राखनारो वाचक वर्ग आ मुद्रण प्रत्ये पण उदारता दाखवी तेने वधावी लेशे ए आशा अस्थाने नथी.

महावीरवाणीनी कायापलट

आगली बधी आवृत्तिओ करतां आ संस्करणमां जे विशेषता छे ते आ प्रमाणे छे :

१ महावीरवाणीनी तमाम प्राकृत गाथाओनो संस्कृत अनुवाद तेमना सळंग आंकडा आपीने पाछळ आपेल छे. जे वाचको हिन्दी नथी जाणता तेम ज प्राकृत पण नथी जाणता तेमने अर्थे श्री विनोबाजीए संस्कृत अनुवाद आपवानी सूचना करेली. ते प्रमाणे आ अनुवाद आपेल छे. तेमां क्यांय क्यांय संक्षिप्त टिप्पण पण आपेल छे. संस्कृत अनुवादनी भाषा आम तो सरळ संस्कृत राखी छे छतां तेमां छांदस प्रयोगो पण मूळ प्राकृत भाषा साथे तुलना करी जोवानी दृष्टिए आपेला छे.

२ आगली आवृत्तिओमां सौथी प्रथम आवृत्तिमां मूळ गाथाओ ३४५ हती, पछीनी आवृत्तिमां पंदरमा अशरणसूत्रमां छेल्ले एक गाथा वधारेली तेथी तेमां मूळ गाथाओ ३४६ थई. आ आवृत्तिमां कुल गाथाओ ३१४ छे एटले आगली आवृत्ति करतां आमांथी बत्रीश गाथाओ घटाडी छे. तेनी वीगत आ प्रमाणे छे :

बीजा धर्मसूत्रमांथी चार गाथाओ घटाडी छे जे गाथाओ जूनी आवृत्तिमां पांचमी, छट्ठी, सातमी अने आठमी तथा अग्यारमी, बारमी अने तेरमी हती अर्थात् बीजा धर्मसूत्रमांथी कुले सात गाथाओ ओछी थई छे.

त्रीजा अहिंसासूत्रमांथी जूनी आवृत्तिमां जे

२४मी अने २५मी गाथा तथा दसमा चतुरंगीय-सूत्रमांथी जूना प्रमाणे ९७मी अने ९८मी गाथा इती ते गाथाओ आमां ओछी करी छे.

पछी अगियारमा बीजा अप्रमादसूत्रमांथी जूनी आवृत्ति प्रमाणे १२७ थी १३५ सुधीनी एटले कुले नव गाथाओ ओछी करी छे.

चोवीशमुं विवादसूत्र आखुं ज काढी नाख्युं छे एटले एनी कुले १९ गाथाओ ओछी थई.

आम तो ७+२+२+९+१९ कुले ओगणचाळीश गाथाओ घटी छे एटले बधी मळीने ३०७ गाथाओ रहेवी जोईए पण २४मा विवादसूत्रने बदले जाति-मदनिवारणसूत्र नवुं ज गोठव्युं छे. तेनी गाथाओ कुले सात छे एटले ३०७×७ मळी आ आवृत्तिमां कुले ३१४ गाथा थई, आ जोतां जूनी आवृत्ति करतां आमांथी कुले ३२ गाथाओ घटी.

वाचकोनी रुचि प्रत्यक्ष जीवन तरफ रहे अने प्रत्यक्ष जीवन ज भविष्यना जीवननो पायो छे ए माटे ए तरफ ज विशेष ध्यान खेंचाय ते दृष्टिने लक्ष्यमां राखी आ आवृत्तिमां थोडीघणी वधघट करी छे.

वर्तमानमां आपणे जोईए छीए के तमाम धर्मा-वलंबीओनुं ध्यान प्रत्यक्ष सृष्टि करतां परोक्ष सृष्टि तरफ घणुं वधारे छे. तेओ ईश्वरने नामे, मंदिरने नामे, देवदेवीओने नामे, धर्मनां मनातां कर्म-

कांडोने नामे घणो घणो भोग आपे छे, घणो घणो त्याग करे छे अने एवुं बीजुं घणुं घणुं कष्ट सहन करे छे तेम छतां आपणुं वर्तमान जीवन सुखमय, संतोषमय, शांतिमय नथी बनी शकतुं. कुटुंबमां एवो ज विखवाद चाल्या करे छे अने समाजमां तथा राष्ट्रमां पण एवा ज हानिकारक विखवादो थया करे छे, नवा नवा वध्या करे छे. आपणुं लक्ष्य वर्तमान जीवनमां शांति सुख संतोष अने वात्सल्य तरफ ज होय तो आवुं केम बनी शके ?

आ तरफ विशेष लक्ष्य खेंचाय माटे ज आ संस्करणमां थोडी कांटछांट करी छे. भाई रांकाजीनी सूचना आ ज हकीकतने लक्ष्यमां राखीने कांटछांट माटे थएली हती एटले पण आ कांटछांट करवानुं गमी गयुं छे.

आ महावीरवाणी आपणा प्रत्यक्ष जीवनमां सुख शांति संतोष अने वात्सल्य प्रेरनारी थाय ए एक ज आकांक्षा छे.

महावीरवाणीना जे वाचको अजैन छे तेमने खास महावीरवाणीमां आवेलुं लोकतत्त्व सूत्र १९ मुं कांईक वधारे पडतुं पारिभाषिक लागे खरुं छतां ए ते द्वारा ते वाचकोने जैन प्रवचन विशे थोडी घणी माहिती जरूर मळशे एम मानीने तेने बदल्युं नथी.

जैन प्रवचनमां जन्मजातिवादने मूळथी ज स्थान

नथी, बल्के कहेवामां आवे तो भगवान महावीरना धर्मचक्र प्रवर्तनना जे बीजा बीजा हेतुओ हता तेमां जन्मजातिवादने मीटावी देवानो पण एक खास हेतु हतो ज. ए वातने लक्ष्यमां लाववा खातर २४ मुं जातिमदनिवारण सूत्र खास सांकळवामां आव्युं छे. ते बधी गाथाओ अने एने मळती बीजी बीजी अनेक गाथाओ उत्तराध्ययन सूत्र वगेरे अनेक सूत्रोमां भरी पडी छे परंतु ते बधीने अहीं न आपतां मात्र आचारांग अने सूत्रकृतांग सूत्रमांथी थोडां वचनो वानगी रूपे अहीं गोठवेलां छे. ते उपरथी वाचको जोई शकशे के जैन प्रवचनमां मूळथी ज जन्म-जातिवादने जराय स्थान नथी एटलुं ज नहीं पण एनो विशेष विरोध भगवान महावीरे ज पोते करेलो छे.

दुःख अने खेदनी वात तो ए छे के वर्तमानमां जेओ जैन धर्मना आचार्य कहेवाय छे तेओ पण हजी सुधी अस्पृश्यताने जाळवी रह्या छे अने केम जाणे ते तेमनो सदाचार न होय तेम पाळी रह्या छे. खरी रीते ए रीतनुं वर्तन जैन प्रवचनथी तद्दन विरुद्ध छे, अहिंसानी दृष्टिए पण तद्दन अनुचित छे अने भगवान महावीरना वचनोथी तो ए सदंतर वेगळुं छे. ए वात वर्तमान जैन उपदेशकोना अने तेमना अनुयायीओना खास ख्यालमां आवे माटे ज आ जातिमदनिवारण सूत्रने अहीं सांकळेलुं छे.

प्रस्तुत पुस्तकमां श्रमण भगवान महावीरनुं एक सुंदर चित्र जरूरी लागतुं हतुं तथा तेमनो मानवतानी दृष्टिए प्रामाणिक परिचय आपवानुं पण तेटलुं ज जरूरी जणातुं हतुं छतां य आमांथी पेलुं चित्र मूकवानुं तो बनी शक्युं छे अने तेमनो परिचय आपवानुं हाल तुरत नथी बनी शक्युं ते माटे वाचको जरूर क्षमा आपशे पण निकटना भविष्यमां महावीरवाणीनो गुजराती अनुवाद मारे वाचको समक्ष रजु करवानो मनोरथ छे ते वखते आ परिचय आपवा जरूर प्रयास करवानुं धारी राख्युं छे.

उपरांत जे जे वचनो महावीरवाणीमां आवेलां छे तेवां ज वचनो बुद्धवाणीमां अने वैदिकवाणीमां-उपनिषदो अने महाभारत वगेरेमां-सुद्धां मळी आवे छे ते अंगेनुं तुलनात्मक लखाण पण आ वाणीनी प्रस्तावनामां जरूरी छे अने डॉ. भगवानदासजीए पोतानी प्रस्तावनामां आ वचनो विशे जे एक बीजी सूचना करेली छे ते विशे पण खास लखवा जेवुं छे. तेमनी सूचना ए हती के आ वचनो भगवान महावीरे जे जे प्रसंगे कहेलां होय ते तमाम प्रसंगोवाळी टूंकी नोंध ते ते वचनो साथे आपी देवी जोईए जेथी आ वचनोने वांचतां ज तेमनो आशय हृदयमां जडाई जाय अने आ वचनो वधारे असरकारक बने.

आ बन्ने मुद्दाओ विशे पण हवे पछी लखवानी कल्पना करी हाल तो मूकी दीधो छे.

आ उपरांत केटलांक वचनोनो आशय सम-जाववा साद थोडुं विवेचन करवुं जरूरी छे. जेमके दाखला तरीके-धर्मसूत्रमां आवेली चोथी गाथानो अर्थ आ प्रमाणे छेः

"जरा अने मरणना वेगथी धोधबंध वहेता प्रवाहमां तणाता प्राणीओने माटे धर्म ज बेटरूप छे अने धर्म ज शरणरूप छे."

आनो अर्थ कोई एम न समजी बेसे के धर्म कोई पण देहधारीनां जरा अने मरणने अटकावी शके छे. जेम जन्मवुं आपणे वश नथी तेम जरा अने मरण पण तमामने माटे स्वाभाविक छे. मोटा मोटा ज्ञानीओ, संतो, तीर्थंकरो अने चक्रवर्तीओ खरा अर्थमां धर्मावलंबी थई गया पण तेओ घरडा थतां अटक्या नहीं तेम मरतां पण अटक्या नहीं. मात्र तेमनुं धर्मावलंबन तेओने शांतिथी, संतोषथी अने अविषमभावे जीवन जीववामां खप लागतुं अने धर्मावलंबननो खरो अर्थ पण ए ज छे.

जे विकार स्वाभाविक छे तेने कोई अटकावी शके ज नही मात्र ते विकारो थतां आपणने कदाच अज्ञानताथी अशांति असंतोष उपजे तो धर्मावलंबनथी तेमनुं समाधान थाय छे. आ अर्थ 'धर्म ज शरणरूप

छे' ते साचकथने बरोबर छे. आ ज रीते आ वचनो विशे आवां टिप्पणो करवानी जरूर छे.

संपादकीय कथनमां हवे आथी वधारे लखवुं आवश्यक नथी.

आ महावीरवाणी तमाम प्राणीने, तमाम भूतोने, तमाम जीवोने अने तमाम सत्त्वोने सुखकर, संतोषकर अने समाधानकर नीवडो एवी भावना भावी विरमुं छुं.

मूळ अने अनुवाद पूरो थया पछी पाछळ आपेलो बधो भाग अमदावादमां शारदा मुद्रणालये छापेल छे. तेना मालीक अने व्यवस्थापके आ छापकाम घणुं ज सुंदर थाय तेम पूरती काळजी राखी छे ते, ए काम ज कही आपे छेः एटलुं ज नहीं चित्रनी पसंदगी पण श्रीबालाभाईए पोते घणी काळजीथी करी छे. आ बधा मारा अंगत स्वजनो छे छतां य आ मुद्रणालयना कामने विशेष प्रसिद्धि मळे ए दृष्टिए ज अहीं आ प्रेसना नामनुं खास संकीर्तन करूं छुं.

ता. ९-७-५३
१२/ब भारती निवास सोसायटी
ऍलिसब्रिज : अमदावाद-६

बेचरदास दोशी

महावीर और उनकी वाणी

बुद्ध और महावीर भारतीय आकाश के दो उज्वल नक्षत्र हैं. गुरु शुक्र के समान तेजस्वी और मंगल-दर्शन. बुद्ध का प्रकाश दुनिया में व्यापक फैल गया. महावीर का प्रकाश भारत के हृदय की गहराई में पैठ गया. बुद्धने मध्यम-मार्ग सिखाया. महावीर ने मध्यस्थ-दृष्टि दी. दोनों दयालु और अहिंसा–धर्मी थे. बुद्ध बोध-प्रधान थे, महावीर वीर्यवान तपस्वी थे।

बुद्ध और महावीर दोनों कर्मवीर थे. लेखन-वृत्ति उनमें नहीं थी. ये निर्ग्रंथ थे. कोई शास्त्र रचना उन्होंने नहीं की. पर वे जो बोलते जाते थे, उसीमें से शास्त्र बनते थे. उनका बोलना सहज होता था. उनकी बिखरी हुई वाणी का संग्रह भी पीछे से लोगों को एकत्र करना पड़ा.

बुद्ध वाणी का एक छोटासा सारभूत संग्रह, धम्मपद के नाम से दो हजार साल पहिले ही हो चुका था, जो बौद्ध-समाज में ही नहीं, बल्कि सारी दुनिया में भगवद्गीता के समान प्रचलित हो गया है. महावीर की वाणी अभी तक जैनों के आगमादि ग्रंथों में, बिखरी पड़ी थी. उसमें से चुन करके, यह एक छोटासा संग्रह, आत्मार्थियों के उपयोग के लिये श्री रिषभदासजी की प्रेरणा से प्रकाशित किया गया है. वैसे तो इस पुस्तक की यह तीसरी आवृत्ति है. पर यह

पुनर्मुद्रण नहीं है, बल्कि परिवर्धित आवृत्ति है जिसमें अधिक व्यापक दृष्टिसे संकलन हुआ है. मेरे सुझाव पर इसमें मूल वचनों के संस्कृत रूपांतर भी दिये हैं. उससे महावीरवाणी समझने में सुलभता होगी।

धम्मपद काल-मान्य हो चुका है. महावीर-वाणी भी हो सकती है, अगर जैन-समाज एक विद्वत्-परिषद् के जरिये पूरी छानबीन के साथ, वचनों का और उनके क्रम का निश्चय करके, एक प्रमाणभूत संग्रह लोगों के सामने रक्खे. मेरा जैनसमाज को यह एक विशेष सुझाव है. अगर इस सूचना पर अमल किया गया तो, जैन विचार के प्रचार के लिये, जो पचासों किताबें लिखी जाती हैं, उनसे अधिक उपयोग इसका होगा.

ऐसा अपौरुषेय संग्रह जब होगा तब होगा, पर तब तक पौरुषेय-संग्रह, व्यक्तिगत प्रयत्न से, जो होंगे वे भी उपयोगी होंगे। "साधक सहचरी" नाम से ऐसा ही एक संग्रह श्री संतबालजी का किया हुआ, प्रकाशित हुआ है. यह दूसरा प्रयत्न है. मैं चाहता हूं कि केवल जैन समाज ही नहीं, पर चित्त-शुद्धि की चाह रखनेवाले, जो जैन संप्रदाय के नहीं हैं वे भी, इसका चिंतन मनन करेंगे.

पड़ाव छपरी (बिहार) ३०-३-५३ **—विनोबा**

मैं उन्हींका काम कर रहा हूं

"महावीर वाणी मुझे बहुत ही प्रिय लगी है. संस्कृत छाया दे रहे हो उससे उसे समझने में सहूलियत होगी. आज तो मैं बुद्ध और महावीर की छत्र छाया में उन्हींके प्यारे बिहार में घूम रहा हूं और मानता हूं कि उन्हीं का काम मैं कर रहा हूं. इन दिनों 'धम्मपद'की पुस्तक मेरे साथ रहती है. जब महावीर वाणी का आपका नया संस्करण निकलेगा तब वह भी रखूंगा. पढ़ने के लिए मुझे समय मिले या न मिले, कोई चिंता नहीं. ऐसी चीजें नजदीक रहीं तो उनकी संगति से भी बहुत मिल जाता है. वैसे पहेले महावीर-वाणी मैं देख चुका हूं. फिर भी प्रिय वस्तु का पुनर्दर्शन प्रियतर होगा. आजकल सैकड़ों पुस्तकों की हर भाषामें भरमार हो रहीं है. अगर मेरी चले तो बहुत से लेखकों को मैं खेती के काम में लगाना चाहूंगा और गीता, धम्मपद, महावीर-वाणी जैसी चंद किताबों से समाजको उज्जीवन पहुँचाऊँगा ।*

पड़ाव : अंबा (गया)

—विनोबा

११-११-५२

* ऊपरकी पंक्तियां रांकाजीको लिखे गए एक पत्रसे ली गई है जो उन्होंने 'महावीर-वाणी' पुस्तकके विषयमें लिखी थीं।

ॐ

महावीर वाणी के तृतीयसंस्करण की

प्रस्तावना

अध्यापक श्री बेचरदास जीवराज दोशीजी का पत्र, ति. १५-६-१९५३ ई. का मुझे ति. १८-६-'५३को मिला, और नये संस्करणके छपे फ़र्मे भी मिले। द्वितीय की अपेक्षा इसमे जो परिवर्तन किया गया है, अर्थात् कुछ अंश छोड़ दिया है, कुछ बढ़ाया है, उसकी चर्चा, श्रीजमनालालजी जैनने अपने "पुनश्च" शीर्षकके निवेदनमे, किया है; तथा श्रीबेचरदासजीने उक्त पत्रमे अधिक विस्तार से किया है; फलतः, प्रथम और द्वितीयमे ३४५ तथा ३४६ गाथा थीं, इसमे ३१४ हैं। 'जातिमदनिवारणसूत्र' जो बढ़ाया है वह बहुत ही अच्छा, शिक्षाप्रद, समयोचित, आवश्यक, समाजशोधक सूक्त है। यदि अन्य प्रमुख जैनाचार्योंकी उक्तियाँ, इसकी टीकाके रूपमे इसके 'परिशिष्ट' के रूपमे, नहीं तो चौथे संस्करणमे, रख दी जायँ तो और अच्छा हो; यथा रविषेण (५ वीं शती)के 'पद्मचरित'मे,

" मनुष्यजातिरेकैव, जातिनामोद्भवोद्भवा,
वृत्तिभेदाद् हि तद्भेदात् चातुर्वर्ण्यमिहाऽश्नुते।
ब्राह्मणाः व्रतसंस्कारात्, क्षत्रियाः शस्त्रधारणात्,
वणिजोऽर्थार्जनात् न्यायात्, शूद्राः न्यग्वृत्तिसंश्रयात्।"

तृतीय संस्करण का एक और श्लाघ्य विशेष गुण यह है कि प्रत्येक श्लोकके नीचे, उस प्राचीन मूल ग्रंथका संकेत कर दिया है जिसमे वह मिलता है, यथा 'उत्तराध्यनसूत्र' 'दश-वैकालिकसूत्र', आदि। एक और कार्य, आगामी संस्करणोँ मे कर्तव्य है; प्रसिद्ध है कि बुद्धदेवने 'धम्मपद'की प्रत्येक गाथा विशेष विशेष अवसर पर कही; उन अवसरों के वर्णन सहित 'धम्मपद'के कोई कोई संस्करण छपे हैँ; प्रायः महावीरस्वामीने भी ऐसे अवसरों पर गाथा कही होंगी; उनको भी छापना चाहिये। यह रीति इस देश की बहुत पुरानी है; अति प्राचीन इतिहास, पुराण, रामायण, महाभारत, भागवत आदि मे, अध्यात्मशास्त्र, धर्मशास्त्र, राजशास्त्र, ब्रह्मविद्याके भी, गूढ सिद्धांत, आख्यानकोँ कथानकोँकी लपेट मे कहे गये हैँ, जो उदाहरणो का काम देते हैँ; इस प्रकार से, रोचकता के कारण, सिद्धांत ठीक ठीक समझ मे भी आ जाते हैँ और स्मृति मे गड़ जाते हैँ, कभी भूलते नहीँ।

पुस्तकके अंतमें सब गाथाओँका संस्कृत रूपांतर छाप

दिया है, यह भी बहुत उत्तम काम किया है। कालके प्रभावसे, महावीरके समयकी प्राकृत भाषा (यथा उनके समकालीन बुद्धकी पाली) लुप्त हो गई है, किंतु संस्कृत उनसे सहस्रों वर्ष पहिले से आज तक भारत मे पढ़ी, समझी, और विद्वन्मंडली मे कुछ कुछ बोली भी जाती है; अतः इस संस्करणका, उक्त संस्कृत अनुवादके हेतु, उस मंडलीमें अधिक प्रचार और आदर होगा, विशेष कर भारतके उन प्रांतों मे जहां हिन्दी अभी तक समझी नहीं जाती है, यद्यपि भारतके नये संविधान मे उसे 'राष्ट्रभाषा' घोषित कर दिया है। स्मरणीय है कि महावीर निर्वाणके कुछ शतियों बाद, जिनानुयायी धुरंधर प्रकांड विद्वानोने प्राकृतभाषाका प्रयोग छोड़ दिया; क्योंकि प्राकृत भाषाएँ नित्य बदलती रहती हैं, यथा कालिदासादिके नाटकोंके समय की आठ प्राकृतों मे से एक का भी व्यवहार आज नहीं है; इन विद्वानोने अपने रचे ग्रंथों को चिरजीविता देने के लिये संस्कृतमें लिखा; यथा, उमास्वामी (द्वितीयशताब्दी ई०)ने नितांत प्रामाणिक 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र', जिसे दिगम्बर श्वेताम्बर दोनों ही मानते हैं; अकलंकने 'राजवार्तिक' नामकी टीका 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र' पर; 'कलिकालसर्वज्ञ' राजगुरु हेमचंद्राचार्य (१२वीं शती)ने 'प्रमाणमीमांसा', 'हैम-बृहदभिधान' नामक संस्कृत शब्दों का कोष, तथा अन्य कई विशालकाय ग्रंथ; हरिभद्र

(९वीं)ने षड्दर्शनसमुच्चय'; समंतभद्र (६वीं)ने 'आतमीमांसा'; इति प्रभृति।

मुझे यह त्रुटि जान पड़ती है कि इस नये संस्करण का काग़ज वैसा अच्छा नहीं है जैसा प्रथम संस्करण का था। क्या किया जाय ? समयके फेरसे सभी वस्तुओं के मूल्य मे अतिवृद्धि, एक ओर; पुस्तक इतनी महर्ष न हो जाय कि अल्पवित्त सज्जन क्रय न कर सकैं, दूसरी ओर; इन दो कठिनाइयौं के बीच ऐसा करना पड़ा।

दूसरा खेद मुझे यह है की इस श्रेष्ठ ग्रंथ का प्रचार बहुत कम हुआ। सन् १९५१की जनगणना मे, जैनो की संख्या, स्थूल अंकों मे, समग्र भारत मे १३००००० (तेरहलाख)थी; सबसे अधिक बंबई राज्य मे, ५७२०००; फिर राजस्थान मे, ३२८०००; सौराष्ट्र मे, १२४०००; मध्यभारत मे, १०००००; उत्तरप्रदेशमे, ९८०००। तेरहलाख की संख्या प्रायः दो लाख परिवारौंमे बँटी हुई समझी जा सकती है। जैन परिवार प्रायः सभी साक्षर होते हैं। यदि दो कुलोंके बीच मे भी एक प्रति रहै तो एक लक्ष प्रतियाँ चाहियें। सो, पहिले संस्करण की दो सहस्र प्रतियां छपीं; स्यात् दूसरेकी भी

इतनी ही; इस तीसरे की भी प्रायः इतनी छपेंगी। वह संख्या कथमपि पर्याप्त नहीं है।

छः वर्षों बाद, गत अप्रैल मास मे, विशेष कार्यवश, मुझे कलकत्ता जाना पड़ा। वहाँ, कुछ जैन सज्जनोके निर्बंधसे २७ अप्रैलको, सुन्दर और विशाल 'जैन उपाश्रयभवन'मे महावीरजयंतीके समारोहका प्रारंभ, एक प्रवचनसे करनेके लिये गया। प्रायः बारह सौ सज्जन और देवियाँ एकत्र थीं। मैने पूछा कि 'महावीरवाणी' आप लोगोंने देखा है? किसीने भी 'हाँ' नहीं कहा। मुझे वहुत आश्चर्य हुआ। कलकत्तामें प्रायः पाँच सहस्र जैन परिवार, जिन मे पचीस सहस्र प्राणी होंगे, निवास करते हैं, ऐसा मुझे बतलाया गया। परमेश्वरकी दयासे और अपनी व्यापारकुशलता और उत्साहसे, जैन सज्जन जैसे साक्षर हैं वैसे बहुवित्त धनी और कोई कोई कोटिपति भी हैं; यही दशा बंबई, राजस्थान, सौराष्ट्र आदि प्रान्तोंकी है; यदि उनके पास कोई प्रामाणिक सुख्यात सज्जन छपे परिपत्र लेकर जायँ तो निश्चयेन लाखों रुपये इस उत्तम धर्मकार्यके लिये सहज मे मिल जायँ, और एक लाख प्रतियोंका, नहीं तो कमसे कम पचास सहस्र का, उत्तम संस्करण, अच्छे पुष्ट काग़ज़ पर और अच्छी पुष्ट कपड़े की जिल्द का, छप जाय, जैसा प्रथम

संस्करण का था जो सस्ता–साहित्य–मंडल, नई दिल्ली से निकला था। जैन समाजने अर्बों रुपये सुंदरसे सुन्दर मंदिरों और मूर्तियों पर व्यय किया है; महावीर जिनके उपदेश आदेशके प्रचारके लिये लाखों रुपये व्यय करना उसके लिये क्या कठिन है?

श्रीबेचरदासजीके, ति. २९–६–१९५२के पोस्टकार्डसे विदित हुआ कि गुजरात युनिवर्सिटीने, प्राकृतभाषा के पाठ्य-क्रममें, 'इन्टर' वर्गके लिये, महावीरवाणी को रख दिया है; यह बहुत सभाजनीय अभिनंदनीय काम किया है; इससे भी ग्रंथके प्रचार मे बहुत सहायता मिलेगी।

सौर १९ आषाढ, २०१० वि०	(डाक्टर) भगवान्‌दास
(जूलाई, ३ १९५३ ई०)	"शांतिसदन", सिग्रा, बनारस–२

महावीर-वाणी

: १ :

मंगल-सुत्तं

नमोक्कारो

नमो अरिहंताणं ।

नमो सिद्धाणं ।

नमो आयरियाणं ।

नमो उवज्झायाणं ।

नमो लोए सव्वसाहूणं ।

एसो पंच नमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो ।

मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ॥

[पंचप्रति० सू० १]

मंगलं

अरिहंता मंगलं ।

सिद्धा मंगलं ।

साहू मंगलं ।

केवलिपन्नत्तो धम्मो मंगलं ।

[पंचप्रति० संथारा० सू०]

मङ्गल-सूत्र

नमस्कार

अर्हन्तों को नमस्कार;

सिद्धों को नमस्कार;

आचार्यों को नमस्कार;

उपाध्यायों को नमस्कार;

लोक (संसार) में सब साधुओं को नमस्कार।

—यह पञ्च नमस्कार समस्त पापों का नाश करनेवाला है, और सब मङ्गलों में प्रथम (मुख्य) मङ्गल है।

मङ्गल

अर्हन्त मङ्गल हैं;

सिद्ध मङ्गल हैं;

साधु मङ्गल हैं;

केवली-प्ररूपित अर्थात् सर्वज्ञ-कथित धर्म मङ्गल है।

लोगुत्तमा

अरिहंता लोगुत्तमा।
सिद्धा लोगुत्तमा।
साहू लोगुत्तमा।
केवलिपन्नत्तो धम्मो लोगुत्तमो।

[पंचप्रति० संथारा० सू०]

सरणं

अरिहंते सरणं पवज्जामि।
सिद्धे सरणं पवज्जामि।
साहू सरणं पवज्जामि।
केवलिपन्नत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि।

[पंचप्रति० संथारा० सू०]

लोकोत्तम

अर्हन्त लोकोत्तम (संसार में श्रेष्ठ) हैं;

सिद्ध लोकोत्तम हैं;

साधु लोकोत्तम हैं;

केवली-प्ररूपित धर्म लोकोत्तम है ।

शरण

अर्हन्त की शरण स्वीकार करता हूँ;

सिद्धों की शरण स्वीकार करता हूँ;

साधुओं की शरण स्वीकार करता हूँ;

केवली-प्ररूपित धर्म की शरण स्वीकार करता हूँ ।

धम्म-सुत्तं

(१)

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसन्ति जस्स धम्मे सया मणो ॥ १ ॥

[दश० अ० १ गा० १]

(२)

अहिंस सच्चं च अतेणगं च,
तत्तो य बम्भं अपरिग्गहं च।
पडिवज्जिया पंच महव्वयाणि,
चरिज्ज धम्मं जिणदेसियं विदू ॥ २ ॥

[उत्तरा० अ० २१ गा० १२]

(३)

पाणे य नाइवाएज्जा, अदिन्नं पि य नायए।
साइयं न मुसं बूया, एस धम्मे वुसीमओ ॥ ३ ॥

[सू० श्रु० १ अ० ८ गा० १९]

(४)

जरामरणवेगेणं, वुज्झमाणाण पाणिणं।
धम्मो दीवो पइट्ठा य, गई सरणमुत्तमं ॥ ४ ॥

[उत्तरा० अ० २३ गा० ६८]

: २ :

धर्म-सूत्र

(१)

धर्म सर्वश्रेष्ठ मङ्गल है।

(कौन-सा धर्म ?) अहिंसा, संयम और तप।

जिस मनुष्य का मन उक्त धर्म में सदा संलग्न रहता है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं।

(२)

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पांच महाव्रतों को स्वीकार करके बुद्धिमान मनुष्य जिन-द्वारा उपदिष्ट धर्म का आचरण करे।

(३)

छोटे-बड़े किसी भी प्राणी की हिंसा न करना; अदत्त (बिना दी हुई वस्तु) न लेना, विश्वासघाती असत्य न बोलना-यह आत्मनिग्रही सत्पुरुषों का धर्म है।

(४)

जरा और मरण के वेगवाले प्रवाह में बहते हुए जीवों के लिये धर्म ही एक-मात्र द्वीप, प्रतिष्ठा, गति, और उत्तम शरण है।

(५)

जहा सागडिओ जाणं, समं हिच्चा महापहं ।
विसमं मग्गमोइण्णो, अक्खे भग्गम्मि सोयई ॥ ५ ॥

[उत्तरा० अ० ५ गा० १४]

(६)

एवं धम्मं विउक्कम्म, अहम्मं पडिवज्जिया ।
बाले मच्चुमुहं पत्ते, अक्खे भग्गे व सोयई ॥ ६ ॥

[उत्तरा० अ० ५ गा० १५]

(७)

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई ।
अहम्मं कुणमाणस्स, अफला जन्ति राइओ ॥ ७ ॥

[उत्तरा० अ० १४ गा० २४]

(८)

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई ।
धम्मं च कुणमाणस्स, सफला जन्ति राइओ ॥ ८ ॥

[उत्तरा० अ० १४ गा० २५]

(९)

जरा जाव न पीडेइ, वाही जाव न वड्ढइ ।
जाविंदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे ॥ ९ ॥

[दश० अ० ८ गा० ३६]

(५)

जिस प्रकार मूर्ख गाड़ीवान जान-बूझकर साफ-सुथरे राज-मार्ग को छोड़ विषम (ऊँचे-नीचे, ऊबड़-खाबड़) मार्ग पर जाता है और गाड़ी की धुरी टूट जाने पर शोक करता है—

(६)

उसी प्रकार मूर्ख मनुष्य धर्म को छोड़ अधर्म को ग्रहण कर, अन्त में मृत्यु के मुँह में पड़कर जीवन की धुरी टूट जाने पर शोक करता है।

(७)

जो रात और दिन एक बार अतीत की ओर चले जाते हैं, वे फिर कभी वापस नहीं आते; जो मनुष्य अधर्म (पाप) करता है, उसके वे रात-दिन बिल्कुल निष्फल जाते हैं।

(८)

जो रात और दिन एक बार अतीत की ओर चले जाते हैं, वे फिर कभी वापस नहीं आते; जो मनुष्य धर्म करता है उसके वे रात और दिन सफल हो जाते हैं।

(९)

जबतक बुढ़ापा नहीं सताता, जबतक व्याधियाँ नहीं बढ़तीं, जबतक इन्द्रियाँ हीन (अशक्त) नहीं होतीं, तबतक धर्म का आचरण कर लेना चाहिये—बाद में कुछ नहीं होने का।

(१०)

मरिहिसि रायं ! जया तया वा,
मणोरमे कामगुणे विहाय ।
इक्को हु धम्मो नरदेव ! ताणं,
न विज्जई अन्नमिहेह किंचि ॥ १० ॥

[उत्तरा० अ० १४ गा० ४०]

(१०)

हे राजन् ! जब आप इन मनोहर काम-भोगों को छोड़कर पर-लोक के यात्री बनेंगे, तब एक-मात्र धर्म ही आपकी रक्षा करेगा। हे नरदेव ! धर्म को छोड़कर जगत् में दूसरा कोई भी रक्षा करने वाला नहीं है।

अहिंसा-सुत्तं

(११)

तत्थिमं पढमं ठाणं, महावीरेण देसियं ।
अहिंसा निउणा दिट्ठा, सव्वभूएसु संजमो ॥ १ ॥

[दश० अ० ६ गा० ६]

(१२)

जावन्ति लोए पाणा, तसा अदुवा थावरा ।
ते जाणमजाणं वा, न हणे नो वि घायए ॥ २ ॥

[दश अ० ६ गा० १०]

(१३)

सयं तिवायए पाणे, अदुवऽन्नेहिं घायए ।
हणन्तं वाऽणुजाणाइ, वेरं वड्ढइ अप्पणो ॥ ३ ॥

[सूत्र: श्रु० १ अ० १ उ० १ गा० ३]

(१४)

जगनिस्सिएहिं भूएहिं, तसनामेहिं थावरेहिं च ।
नो तेसिमारभे दंडं, मणसा वयसा कायसा चेव ॥ ४ ॥

[उत्तरा० अ० ८ गा० १०]

: ३ :

अहिंसा—सूत्र

(११)

भगवान महावीर ने अठारह धर्म-स्थानों में सबसे पहला स्थान अहिंसा का बतलाया है।

सब जीवों के साथ संयम से व्यवहार रखना अहिंसा है; वह सब सुखों को देनेवाली मानी गई है।

(१२)

संसार में जितने भी त्रस और स्थावर प्राणी हैं उन सब को, जान और अनजान में न स्वयं मारना चाहिए और न दूसरों से मरवाना चाहिए।

(१३)

जो मनुष्य प्राणियों की स्वयं हिंसा करता है, दूसरों से हिंसा करवाता है और हिंसा करनेवालों का अनुमोदन करता है, वह संसार में अपने लिये वैर को बढ़ाता है।

(१४)

संसार में रहनेवाले त्रस और स्थावर जीवों पर, मन से, वचन से और शरीर से,—किसी भी तरह दंड का प्रयोग न करना चाहिए।

(१५)

सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं ।
तम्हा पाणिवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंति णं ॥ ५ ॥

[दश० अ० ६ गा० ११]

(१६)

अज्झत्थं सव्वओ सव्वं दिस्स, पाणे पियायए ।
न हणे पाणिणो पाणे, भयवेराओ उवरए ॥ ६ ॥

[उत्तरा० अ० ६ गा० ७]

(१७)

सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं, मईमं पडिलेहिया ।
सव्वे अक्कन्तदुक्खा य, अओ सव्वे न हिंसया ॥ ७ ॥

[सूत्र० श्रु० १ अ० ११ गा० ९]

(१८)

एवं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ किंचण ।
अहिंसासमयं चेव एयावन्तं वियाणिया ॥ ८ ॥

[सूत्र० श्रु० १ अ० ११ गा० १०]

(१५)

सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। इसीलिए निर्ग्रन्थ (जैन मुनि) घोर प्राणि-वध का सर्वथा परित्याग करते हैं।

(१६)

भय और वैर से निवृत्त साधकको, जीवन के प्रति मोह-ममता रखनेवाले सब प्राणियों को सर्वत्र अपनी ही आत्मा के समान जानकर उनकी कभी भी हिंसा न करनी चाहिए।

(१७)

बुद्धिमान् मनुष्य छहों जीव-निकायों का सब प्रकार की युक्तियों से सम्यक्ज्ञान प्राप्त करे और 'सभी जीव दुःख से घबराते हैं'—ऐसा जानकर उन्हें दुःख न पहुँचाये।

(१८)

ज्ञानी होने का सार ही यह है कि वह किसी भी प्राणी की हिंसा न करे;—इतना ही अहिंसा के सिद्धान्त का ज्ञान यथेष्ट है। यही अहिंसाका विज्ञान है।

(१६)

संबुज्झमाणे उ नरे मईमं,
पावाउ अप्पाणं निवट्टएज्जा ।
हिंसप्पसूयाइं दुहाइं मत्ता,
वेरानुबन्धीणि महब्भयाणि ॥ ६ ॥

[सूत्र० श्रु० १ अ० १० गा० २१]

(२०)

समया सव्वभूएसु, सत्तु-मित्तेसु वा जगे ।
पाणाइवायविरई, जावज्जीवाए दुक्करं ॥ १० ॥

[उत्तरा० अ० १६ गा० २५]

(१९)

सम्यक् बोध को जिसने प्राप्त कर लिया वह बुद्धिमान् मनुष्य हिंसा से उत्पन्न होनेवाले वैर-वर्द्धक एवं महाभयंकर दुःखों को जानकर अपने को पाप-कर्म से बचाये।

(२०)

संसार में प्रत्येक प्राणी के प्रति—फिर वह शत्रु हो या मित्र - समभाव रखना, तथा जीवन-पर्यन्त छोटी-मोटी सभी प्रकार की हिंसा का त्याग करना—वास्तव में बहुत दुष्कर है।

: ४ :

सच्च-सुत्तं

(२१)

निच्चकालऽप्पमत्तेणं, मुसावायविवज्जणं ।
भासियव्वं हियं सच्चं, निच्चाऽऽउत्तेण दुक्करं ॥१॥

[उत्तरा० अ० १६ गा० २६]

(२२)

अप्पणट्ठा परट्ठा वा, कोहा वा जइ वा भया ।
हिंसगं न मुसं बूया, नो वि अन्नं वयावए ॥२॥

[दश० अ० ६ गा० १२]

(२३)

मुसावाओ य लोगम्मि, सव्वसाहूहिं गरहिओ ।
अविस्सासो य भूयाणं, तम्हा मोसं विवज्जए ॥३॥

[दश० अ० ६ गा० १३]

(२४)

न लवेज्ज पुट्ठो सावज्जं, न निरट्ठं न मम्मयं ।
अप्पणट्ठा परट्ठा वा, उभयस्सन्तरेण वा ॥४॥

[उत्तरा० अ० १ गा० २५]

: ४ :

सत्य-सूत्र

(२१)

सदा अ-प्रमादी और सावधान रहकर, असत्य को त्याग कर, हितकारी सत्य वचन ही बोलना चाहिए। इस तरह सत्य बोलना बड़ा कठिन होता है।

(२२)

अपने स्वार्थ के लिए अथवा दूसरों के लिए क्रोध से अथवा भय से—किसी भी प्रसंग पर दूसरों को पीड़ा पहुँचानेवाला असत्य वचन न तो स्वयं बोलना, न दूसरों से बुलवाना चाहिए।

(२३)

मृषावाद (असत्य) संसार में सभी सत्पुरुषों द्वारा निन्दित ठहराया गया है और सभी प्राणियों को अविश्वसनीय है; इसलिए मृषावाद सर्वथा छोड़ देना चाहिए।

(२४)

'अपने स्वार्थ के लिए, अथवा दूसरों के लिए, दोनों में से किसी के भी लिए, पूछने पर पाप-युक्त, निरर्थक एवं मर्म-भेदक वचन नहीं बोलना चाहिए।

(२५)

तहेव सावज्जऽणुमोयणी गिरा,
ओहारिणी जा य परोवघायणी ।
से कोह लोह भय हास माणवो,
न हासमाणो वि गिरं वएज्जा ॥५॥

[दश० अ० ७ गा० ५४]

(२६)

दिट्ठं मियं असंदिद्धं, पडिपुण्णं वियंजियं ।
अयंपिरमणुव्विग्गं, भासं निसिर अत्तवं ॥६॥

[दश० अ० ८ गा० ४९]

(२७)

भासाए दोसे य गुणे य जाणिया,
तीसे य दुट्ठे परिवज्जए सया ।
छसु संजए सामणिए सया जए,
वएज्ज बुद्धे हियमाणुलोमियं ॥७॥

[दश० अ० ७ गा० ५६]

(२८)

सयं समेच्च अदुवा वि सोच्चा,
भासेज्ज धम्मं हिययं पयाणं ।
जे गरहिया सणियाणप्पओगा,
न ताणि सेवन्ति सुधीरधम्मा ॥८॥

[सूत्र० श्रु० १ अ० १३ गा० १९]

(२५)

श्रेष्ठ साधु पापकारी, निश्चयकारी और दूसरों को दुःख पहुँचानेवाली वाणी न बोले।

श्रेष्ठ मानव इसी तरह क्रोध, लोभ, भय और हास्य से भी पापकारी वाणी न बोले। हँसते हुए भी पाप-वचन नहीं बोलना चाहिए।

(२६)

आत्मार्थी साधक को दृष्ट (सत्य), परिमित, असंदिग्ध, परिपूर्ण, स्पष्ट-अनुभूत, वाचालता-रहित, और किसी को भी उद्विग्न न करनेवाली वाणी बोलना चाहिए।

(२७)

भाषा के गुण तथा दोषों को भली-भाँति जानकर दूषित भाषा को सदा के लिए छोड़ देनेवाला, षट्काय जीवों पर संयत रहनेवाला, तथा साधुत्व-पालन में सदा तत्पर बुद्धिमान साधक केवल हितकारी मधुर भाषा बोले।

(२८)

श्रेष्ठ धीर पुरुष स्वयं जानकर अथवा गुरुजनों से सुनकर प्रजा का हित करनेवाले धर्मका उपदेश करे। जो आचरण निन्द्य हों, निदानवाले हों, उनका कभी सेवन न करे।

(२९)

सवक्कसुद्धिं समुपेहिया मुणी,
गिरं च दुट्ठं परिवज्जए सया ।
मियं अदुट्ठं अणुवीइ भासए,
सयाण मज्झे लहई पसंसणं ॥९॥
[दश० अ० ७ गा० ५५]

(३०)

तहेव काणं काणे त्ति, पंडगं पंडगे त्ति वा ।
वाहियं वा वि रोगि त्ति, तेणं चोरे त्ति नो वए ॥१०॥
[दश० अ० ७ गा० १२]

(३१)

वितहं वि तहामुत्तिं, जं गिरं भासए नरो ।
तम्हा सो पुट्ठो पावेणं, किं पुण जो मुसं वए ? ॥११॥
[दश० अ० ७ गा० ५]

(३२)

तहेव फरुसा भासा, गुरुभूओवघाइणी ।
सच्चा वि सा न वत्तव्वा, जओ पावस्स आगमो ॥१२॥
[दश० अ० ७ गा० ११]

(२६)

विचारवान मुनि को वचन-शुद्धि का भली-भांति ज्ञान प्राप्त करके दूषित वाणी सदा के लिए छोड़ देनी चाहिए और खूब सोच-विचार कर बहुत परिमित और निर्दोष वचन बोलना चाहिए। इस तरह बोलने से सत्पुरुषों में महान् प्रशंसा प्राप्त होती है।

(३०)

काने को काना, नपुंसक को नपुंसक, रोगी को रोगी और चोर को चोर कहना यद्यपि सत्य है, तथापि ऐसा नहीं कहना चाहिए। (क्योंकि इससे उन व्यक्तियों को दुःख पहुँचता है।)

(३१)

जो मनुष्य भूलसे भी मूलतः असत्य, किन्तु ऊपर से सत्य मालूम होनेवाली भाषा बोल उठता है, और वह भी पापसे अछूता नहीं रहता, तब भला जो जान-बूझकर असत्य बोलता है, उसके पाप का तो कहना ही क्या!

(३२)

जो भाषा कठोर हो, दूसरों को भारी दुःख पहुँचानेवाली हो—वह सत्य ही क्यों न हो—नहीं बोलनी चाहिए। क्यों कि इससे पाप का आस्रव होता है।

: ५ :

अतेणग-सुत्तं

(३३)

चित्तमंतमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहुं ।
दंतसोहणमित्तं पि, उग्गहं से अजाइया ॥१॥

[दश० अ० ६ गा० १४]

(३४)

तं अप्पणा न गिण्हंति, नो वि गिण्हावए परं ।
अन्नं वा गिण्हमाणं पि, नाणुजाणंति संजया ॥२॥

[दश० अ० ६ गा० १५]

(३५)

उड्ढं अहे य तिरियं दिसासु,
तसा य जे थावर जे य पाणा ।
हत्थेहिं पाएहिं य संजमित्ता,
अदिन्नमन्नेसु य नो गहेज्जा ॥३॥

[सूत्र० श्रु० १ अ० १० गा० २]

(३६)

तिव्वं तसे पाणिणो थावरे य,
जे हिंसति आयसुहं पडुच्च ।
जे लूसए होइ अदत्तहारी,
ण सिक्खई सेयवियस्स किंचि ॥४॥

[सूत्र० श्रु० १ अ० ५ उ० १ गा० ४]

: ५ :

अस्तेनक-सूत्र

(३३-३४)

पदार्थ सचेतन हो या अचेतन, अल्प हो या बहुत और तो क्या, दाँत कुरेदने की सींक भी जिस गृहस्थ के अधिकार में हो उसकी आज्ञा लिये बिना पूर्ण-संयमी साधक न तो स्वयं ग्रहण करते हैं न दूसरों को ग्रहण करने के लिये प्रेरित करते हैं, और न ग्रहण करने वालों का अनुमोदन ही करते हैं।

(३५)

ऊँची, नीची और तिरछी दिशा में जहाँ कहीं भी जो त्रस और स्थावर प्राणी हों उन्हें संयम से रह कर अपने हाथों से, पैरों से,—किसी भी अंग से पीड़ा नहीं पहुँचानी चाहिये। दूसरों की बिना दी हुई वस्तु भी चोरी से ग्रहण नहीं करनी चाहिए।

(३६)

जो मनुष्य अपने सुख के लिये त्रस तथा स्थावर प्राणियों की क्रूरता-पूर्वक हिंसा करता है—उन्हें अनेक तरह से कष्ट पहुँचाता है, जो दूसरों की चोरी करता है, जो आदरणीय व्रतों का कुछ भी पालन नहीं करता, (वह भयंकर क्लेश उठाता है)।

(३७)

दंतसोहणमाइस्स, अदत्तस्स विवज्जणं ।
अणवज्जेसणिज्जस्स, गिण्हणा अवि दुक्करं ॥५॥

[उत्तरा० अ० १९ गा० २७]

(३७)

दाँत कुरेदने की सींक आदि तुच्छ वस्तुएँ भी बिना दिए चोरी से न लेना, (बड़ी चीज़ों को चोरी से लेने की तो बात ही क्या ?) निर्दोष एवं एषणीय भोजन-पान भी दाता के यहाँ से दिया हुआ लेना, यह बड़ी दुष्कर बात है।

: ६ :

बंभचरिय-सुत्तं

(३८)

विरई अबंभचेरस्स, कामभोगरसन्नुणा ।
उग्गं महव्वयं बंभं, धारेयव्वं सुदुक्करं ॥१॥

[उत्तरा० अ० १९ गा० २८]

(३९)

अबंभचरियं घोरं, पमायं दुरहिट्ठियं ।
नायरंति मुणी लोए, भेयाययणवज्जिणो ॥२॥

[दश० अ० ६ गा० १६]

(४०)

मूलमेयमहम्मस्स, महादोससमुस्सयं ।
तम्हा मेहुणसंसग्गं, निग्गंथा वज्जयन्ति णं ॥३॥

[दश० अ० ६ गा० १७]

(४१)

विभूसा इत्थिसंसग्गो, पणीयं रसभोयणं ।
नरस्सऽत्तगवेसिस्स, विसं तालउडं जहा ॥४॥

[दश० अ० ८ गा० ५७]

: ६ :

ब्रह्मचर्य-सूत्र

(३८)

काम-भोगों का रस जान लेनेवाले के लिए अ-ब्रह्मचर्य से विरक्त होना और उग्र ब्रह्मचर्य महाव्रत का धारण करना, बड़ा कठिन कार्य है।

(३९)

जो मुनि संयम घातक दोषों से दूर रहते हैं, वे लोक में रहते हुए भी दुःसेव्य, प्रमाद-स्वरूप और भयंकर अ-ब्रह्मचर्य का कभी सेवन नहीं करते।

(४०)

यह अ-ब्रह्मचर्य अधर्म का मूल है, महा-दोषों का स्थान है, इसलिए निर्ग्रन्थ मुनि मैथुन-संसर्ग का सर्वथा परित्याग करते हैं।

(४१)

आत्म-शोधक मनुष्य के लिए शरीर का शृंगार, स्त्रियों का संसर्ग और पौष्टिक-स्वादिष्ट भोजन— सब तालपुट विष के समान महान् भयंकर हैं।

(४२)

न रूवलावण्णविलासहासं,
न जंपियं इंगिय-पेहियं वा ।
इत्थीण चित्तंसि निवेसइत्ता,
दट्ठुं ववस्से समणे तवस्सी ॥५॥

[उत्तरा० अ० ३२ गा० १४]

(४३)

अदंसणं चेव अपत्थणं च,
अचिंतणं चेव अकित्तणं च ।
इत्थीजणस्साऽऽरियझाणजुग्गं,
हियं सया बंभवए रयाणं ॥६॥

[उत्तरा० अ० ३२ गा० १५]

(४४)

मणपल्हायजणणी, कामरागविवड्ढणी ।
बंभचेररओ भिक्खू, थीकहं तु विवज्जए ॥७॥

[उत्तरा० अ० १६ गा० २]

(४५)

समं च संथवं थीहिं, संकहं च अभिक्खणं ।
बंभचेररओ भिक्खू, निच्चसो परिवज्जए ॥८॥

[उत्तरा० अ० १६ गा० ३]

(४२)

श्रमण तपस्वी स्त्रियों के रूप, लावण्य, विलास, हास्य, मधुर-वचन, संकेत-चेष्टा, हाव-भाव और कटाक्ष आदि का मनमें तनिक भी विचार न लावे, और न इन्हें देखने का कभी प्रयत्न करे।

(४३)

स्त्रियों को राग-पूर्वक देखना उनकी अभिलाषा करना, उनका चिन्तन करना, उनका कीर्तन करना, आदि कार्य ब्रह्मचारी पुरुष को कदापि नहीं करने चाहिए। ब्रह्मचर्य व्रत में सदा रत रहने की इच्छा रखनेवाले पुरुषों के लिए यह नियम अत्यन्त हितकर है, और उत्तम ध्यान प्राप्त करने में सहायक है।

(४४)

ब्रह्मचर्य में अनुरक्त भिक्षु को मनमें वैषयिक आनन्द पैदा करनेवाली तथा काम-भोग की आसक्ति बढ़ानेवाली स्त्री-कथा को छोड़ देना चाहिए।

(४५)

ब्रह्मचर्य-रत भिक्षु को स्त्रियों के साथ बात-चीत करना और उनसे बार-बार परिचय प्राप्त करना सदा के लिए छोड़ देना चाहिये।

(४६)

अंगपच्चंगसंठाणं, चारुल्लविय-पेहियं ।
बंभचेररओ थीणं, चक्खुगिज्झं विवज्जए ॥९॥

[उत्तरा० अ० १६ गा० ४]

(४७)

कूइयं रुइयं गीयं, हसियं थणिय-कन्दियं ।
बंभचेररओ थीणं, सोयगिज्झं विवज्जए ॥१०॥

[उत्तरा० अ० १६ गा० ५]

(४८)

हासं किड्डं रइं दप्पं, सहसावत्तासियाणि य ।
बंभचेररओ थीणं, नाणुचिन्ते कयाइ वि ॥११॥

[उत्तरा० अ० १६ गा० ६]

(४९)

पणीयं भत्तपाणं तु खिप्पं मयविवड्ढणं ।
बंभचेररओ भिक्खू, निच्चसो परिवज्जए ॥१२॥

[उत्तरा० अ० १६ गा० ७]

(५०)

धम्मलद्धं मियं काले, जत्तत्थं पणिहाणवं ।
नाइमत्तं तु भुंजेज्जा, बंभचेररओ सया ॥१३॥

[उत्तरा० अ० १६ गा० ८]

(४६)

ब्रह्मचर्य-रत भिक्षु को न तो स्त्रियों के अङ्ग-प्रत्यङ्गों की सुन्दर आकृति की ओर ध्यान देना चाहिए, और न आँखों में विकार पैदा करनेवाले हाव-भावों और स्नेह-भरे मीठे वचनों की ही ओर।

(४७)

ब्रह्मचर्य-रत भिक्षु को स्त्रियों का कूजन (अव्यक्त आवाज) रोदन, गीत, हास्य, सीत्कार और करुण-क्रन्दन—जिनके सुनने पर विकार पैदा होते हैं—सुनना छोड़ देना चाहिए।

(४८)

ब्रह्मचर्य-रत भिक्षु स्त्रियों के पूर्वानुभूत हास्य, क्रीड़ा, रति, दर्प, सहसा-वित्रासन आदि कार्यों को कभी भी स्मरण न करे।

(४९)

ब्रह्मचर्य-रत भिक्षु को शीघ्र ही वासना-वर्धक पुष्टि-कारक भोजन-पान का सदा के लिए परित्याग कर देना चाहिए।

(५०)

ब्रह्मचर्य-रत स्थिर-चित्त भिक्षु को संयम-यात्रा के निर्वाह के लिए हमेशा धर्मानुकूल विधि से प्राप्त परिमित भोजन ही करना चाहिए। कैसी ही भूख क्यों न लगी हो, लालच-वश अधिक मात्रा में कभी भोजन नहीं करना चाहिए।

(५१)

जहा दवग्गी पउरिन्धणे वणे,
समारुओ नोवसमं उवेइ।
एविन्दियग्गी वि पगामभोइणो,
न बंभयारिस्स हियाय कस्सई ॥१४॥

[उत्तरा० अ० ३२ गा० ११]

(५२)

विभूसं परिवज्जेज्जा, सरीरपरिमंडणं।
बंभचेररओ भिक्खू, सिंगारत्थं न धारए ॥१५॥

[उत्तरा० अ० १६ गा० ९]

(५३)

सद्दे रूवे य गन्धे य, रसे फासे तहेव य।
पंचविहे कामगुणे, निच्चसो परिवज्जए ॥१६॥

[उत्तरा० अ० १६ गा० १०]

(५४)

दुज्जए कामभोगे य, निच्चसो परिवज्जए।
संकट्ठाणाणि सव्वाणि, वज्जेज्जा पणिहाणवं ॥१७॥

[उत्तरा० अ० १६ गा० १४]

(५१)

जैसे बहुत ज़्यादा ईंधनवाले जङ्गल में पवन से उत्तेजित दावाग्नि शान्त नहीं होती, उसी तरह मर्यादा से अधिक भोजन करनेवाले ब्रह्मचारी की इंद्रियाग्नि भी शान्त नहीं होती। अधिक भोजन किसी को भी हितकर नहीं होता।

(५२)

ब्रह्मचर्य-रत भिक्षु को शृंगार के लिए, शरीर की शोभा और सजावट का कोई भी शृङ्गारी काम नहीं करना चाहिये।

(५३)

ब्रह्मचारी भिक्षु को शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श—इन पाँच प्रकार के काम-गुणों को सदा के लिये छोड़ देना चाहिये।

(५४)

स्थिर-चित्त भिक्षु, दुर्जय काम-भोगों को हमेशा के लिए छोड़ दे। इतना ही नहीं, जिनसे ब्रह्मचर्य में तनिक भी क्षति पहुँचनेकी सम्भावना हो, उन सब शङ्का-स्थानों का भी उसे, परित्याग कर देना चाहिए।

(५५)

कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं,
सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स ।
जं काइयं माणसियं च किंचि,
तस्सऽन्तगं गच्छइ वीयरागो ॥१८॥

[उत्तरा० अ० ३२ गा० १९]

(५६)

देवदाणवगन्धव्वा, जक्खरक्खसकिन्नरा ।
बंभयारिं नमंसन्ति, दुक्करं जे करेन्ति तं ॥१९॥

[उत्तरा० अ० १६ गा० १६]

(५७)

एस धम्मे धुवे निच्चे, सासए जिणदेसिए ।
सिद्धा सिज्झन्ति चाणेणं, सिज्झिस्सन्ति तहा परे ॥२०॥

[उत्तरा० अ० १६ गा० १७]

(५५)

देवलोक सहित समस्त संसार के शारीरिक तथा मानसिक सभी प्रकार के दुःख का मूल एक-मात्र काम-भोगों की वासना ही है। जो साधक इस सम्बन्ध में वीतराग हो जाता है, वह शारीरिक तथा मानसिक सभी प्रकार के दुःखों से छूट जाता है।

(५६)

जो मनुष्य इस प्रकार दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करता है, उसे देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर आदि सभी नमस्कार करते हैं।

(५७)

यह ब्रह्मचर्य धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है और जिनोपदिष्ट है। इसके द्वारा पूर्वकाल में कितने ही जीव सिद्ध हो गये हैं, वर्तमान में हो रहे हैं, और भविष्य में होंगे।

: ७ :

अपरिग्रह-सूत्र

(५८)

प्राणि-मात्र के संरक्षक ज्ञातपुत्र (भगवान् महावीर) ने कुछ वस्त्र आदि स्थूल पदार्थों को परिग्रह नहीं बतलाया है। वास्तविक परिग्रह तो उन्होंने किसी भी पदार्थ पर मूर्च्छा का — आसक्ति का रखना बतलाया है।

(५९)

पूर्ण-संयमी को धन-धान्य और नौकर-चाकर आदि सभी प्रकार के परिग्रहों का त्याग करना होता है। समस्त पाप-कर्मों का परित्याग करके सर्वथा निर्ममत्व होना तो और भी कठिन बात है।

(६०)

जो संयमी ज्ञातपुत्र (भगवान् महावीर) के प्रवचनों में रत हैं, वे बिड़ और उद्भेद्य आदि नमक तथा तेल, घी, गुड़ आदि किसी भी वस्तु के संग्रह करने का मन में संकल्प तक नहीं करते।

(६१)

परिग्रह-विरक्त मुनि जो भी वस्त्र, पात्र, कम्बल और रजोहरण आदि वस्तुएँ रखते हैं, वे सब एक-मात्र संयम की रक्षा के लिए ही रखते हैं — काम में लाते हैं। (इनके रखने में किसी प्रकार की आसक्ति का भाव नहीं है।)

अपरिग्गह-सुत्तं

(५८)

न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा ।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा ॥१॥

[दश० अ० ६ गा० २१]

(५९)

धण-धन्न-पेसवग्गेसु, परिग्गहविवज्जणं ।
सव्वारंभ-परिच्चाओ, निम्ममत्तं सुदुक्करं ॥२॥

[उत्तरा० अ० १९ गा० २९]

(६०)

विड्मुब्भेइमं लोणं, तेल्लं सप्पि च फाणियं ।
न ते सन्निहिमिच्छन्ति, नायपुत्त-वओरया ॥३॥

[दश० अ० ६ गा० १८]

(६१)

जं पि वत्थं च पायं वा, कंबलं पायपुंछणं ।
तं पि संजमलज्जट्ठा, धारेन्ति परिहरन्ति य ॥४॥

[दश० अ० ६ गा० २०]

(६२)

सव्वत्थुवहिणा बुद्धा, संरक्खण-परिग्गहे ।
अवि अप्पणो वि देहम्मि, नाऽऽयरन्ति ममाइयं ॥५॥

[दश० अ० ६ गा० २२]

(६३)

लोहस्सेस अणुप्फासो, मन्ने अन्नयरामवि ।
जे सिया सन्निहीकामे गिही, पव्वइए न से ॥६॥

[दश० अ० ६ गा० १९]

(६२)

ज्ञानी पुरुष, संयम-साधक उपकरणों के लेने और रखने में कहीं भी किसी भी प्रकार का ममत्व नहीं करते। और तो क्या, अपने शरीर तक पर भी ममता नहीं रखते।

(६३)

संग्रह करना, यह अन्दर रहनेवाले लोभ की झलक है। अतएव मैं मानता हूँ कि जो साधु मर्यादा-विरुद्ध कुछ भी संग्रह करना चाहता है, वह गृहस्थ है—साधु नहीं है।

: ८ :

अराइभोयण-सुत्तं

(६४)

अत्थंगयंमि आइच्चे, पुरत्था य अणुग्गए ।
आहारमाइयं सव्वं, मणसा वि न पत्थए ॥१॥

[दश० अ० ८ गा० २८]

(६५)

सन्तिमे सुहुमा पाणा, तसा अदु व थावरा ।
जाइं राओ अपासंतो, कहमेसणियं चरे ? ॥२॥

[दश० अ० ६ गा० २४]

(६६)

उदउल्लं बीयसंसत्तं, पाणा निव्वडिया महिं ।
दिया ताइं विवज्जेज्जा, राओ तत्थ कहं चरे ? ॥३॥

[दश० अ० ६ गा० २५]

(६७)

एयं च दोसं दट्ठूणं, नायपुत्तेण भासियं ।
सव्वाहारं न भुंजंति, निग्गंथा राइभोयणं ॥४॥

[दश० अ० ६ गा० २६]

: ८ :

अरात्रि-भोजन-सूत्र

(६४)

सूर्य के उदय होने से पहले और सूर्य के अस्त हो जाने के बाद निर्ग्रन्थ मुनि को सभी प्रकार के भोजन-पान आदि की मन से भी इच्छा नहीं करनी चाहिए।

(६५)

संसार में बहुत से त्रस और स्थावर प्राणी बड़े ही सूक्ष्म होते हैं—वे रात्रि में देखे नहीं जा सकते; तब रात्रि में भोजन कैसे किया जा सकता है?

(६६)

ज़मीन पर कहीं पानी पड़ा होता है; कहीं बीज बिखरे होते हैं, और कहीं पर सूक्ष्म कीड़े-मकोड़े आदि जीव होते हैं। दिन में तो उन्हें देख-भालकर बचाया जा सकता है, परन्तु रात्रि में उनको बचा कर भोजन कैसे किया जा सकता है?

(६७)

इस तरह सब दोषों को देखकर ही ज्ञातपुत्र ने कहा है कि निर्ग्रन्थ मुनि, रात्रि में किसी भी प्रकार का भोजन न करें।

(६८)

चउव्विहे वि आहारे, राईभोयणवज्जणा ।
सन्निही-संचओ चेव, वज्जेयव्वो सुदुक्करं ॥५॥

[उत्तरा० अ० १६ गा० ३०]

(६६)

पाणिवह-मुसावायाऽदत्त-मेहुण-परिग्गहा विरओ ।
राइभोयणविरओ, जीवो भवइ अणासवो ॥६॥

[उत्तरा० अ० ३० गा० २]

(६८)

अन्न आदि चारों ही प्रकार के आहार का रात्रि में सेवन नहीं करना चाहिए। इतना ही नहीं, दूसरे दिन के लिए भी रात्रि में खाद्य सामग्री का संग्रह करना निषिद्ध है। अतः अरात्रि-भोजन वास्तव में बड़ा दुष्कर है।

(६९)

हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह और रात्रि-भोजन—जो जीव इनसे विरत (पृथक्) रहता है, वह 'अनाश्रव' (आत्मा में पाप-कर्म के प्रविष्ट होने के द्वार आश्रव कहलाते हैं, उनसे रहित = अनाश्रव) हो जाता है।

विणय-सुत्तं

(७०)

मूलाओ खंधप्पभवो दुमस्स,
खंधाउ पच्छा समुवेन्ति साहा ।
साहा-प्पसाहा विरुहन्ति पत्ता,
तओ य से पुप्फं फलं रसो य ॥१॥

[दश० अ० ९ उ० २ गा० १]

(७१)

एवं धम्मस्स विणओ, मूलं परमो से मोक्खो ।
जेण कित्तिं सुयं सिग्घं, निस्सेसं चाभिगच्छइ ॥२॥

[दश० अ० ९ उ० २ गा० २]

(७२)

अह पंचहिं ठाणेहिं, जेहिं सिक्खा न लब्भइ ।
थम्भा कोहा पमाएणं, रोगेणाऽऽलस्सएण य ॥३॥

[उत्तरा० अ० ११ गा० ३]

: ६ :

विनय-सूत्र

(७०)

वृक्ष के मूल से सबसे पहले स्कन्ध पैदा होता है, स्कन्ध के बाद शाखाएँ और शाखाओं से दूसरी छोटी-छोटी टहनियाँ निकलती हैं। छोटी टहनियों से पत्ते पैदा होते हैं। इसके बाद क्रमशः फूल, फल और रस उत्पन्न होते हैं।

(७१)

इसी भाँति धर्म का मूल विनय है और मोक्ष उसका अन्तिम रस है। विनय से ही मनुष्य बहुत जल्दी श्लाघायुक्त संपूर्ण शास्त्र-ज्ञान तथा कीर्ति सम्पादन करता है।

(७२)

इन पाँच कारणों से मनुष्य सच्ची शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकता :—

अभिमान से, क्रोध से, प्रमाद से, कुष्ठ आदि रोग से, और आलस्य से।

(७३-७४)

अह अट्ठहिं ठाणेहिं, सिक्खासीलि त्ति वुच्चइ ।
अहस्सिरे सयादन्ते, न य मम्ममुदाहरे ॥४॥
नासीले न विसीले, न सिया अइलोलुए ।
अकोहणे सच्चरए, सिक्खासीलि त्ति वुच्चइ ॥५॥

[उत्तरा· अ० ११ गा० ४-५]

(७५)

आणानिद्देसकरे, गुरूणमुववायकारए ।
इंगियागारसंपन्ने से विणीए त्ति वुच्चइ ॥६॥

[उत्तरा० अ० १ गा० २]

(७६-७६)

अह पन्नरसहिं ठाणेहिं, सुविणीए त्ति वुच्चइ ।
नीयावित्ती अचवले, अमाई अकुऊहले ॥७॥
अप्पं च अहिक्खिवई, पबन्धं च न कुव्वई ।
मेत्तिज्जमाणो भयइ, सुयं लद्धुं न मज्जइ ॥८॥
न य पावपरिक्खेवी, न य मित्तेसु कुप्पइ ।
अप्पियस्साऽवि मित्तस्स, रहे कल्लाण भासइ ॥९॥
कलहडमरवज्जिए, बुद्धे अभिजाइए ।
हिरिमं पडिसंलीणे, सुविणीए त्ति वुच्चइ ॥१०॥

[उत्तरा० अ० ११ गा० १०-११-१२-१३]

(७३-७४)

इन आठ कारणों से मनुष्य शिक्षा-शील कहलाता है :

हर समय हँसनेवाला न हो, सतत इंद्रिय-निग्रही हो, दूसरों को मर्म-भेदी वचन न बोलता हो, सुशील हो, दुराचारी न हो, रसलोलुप न हो, सत्य में रत हो, क्रोधी न हो—शान्त हो।

(७५)

जो गुरु की आज्ञा पालता है, उनके पास रहता है, उनके इंगितों तथा आकारों को जानता है, वही शिष्य विनीत कहलाता है।

(७६-७९)

इन पन्द्रह कारणों से बुद्धिमान मनुष्य सुविनीत कहलाता है :

उद्धत न हो—नम्र हो, चपल न हो— स्थिर हो, मायावी न हो—सरल हो, कुतूहली न हो—गम्भीर हो, किसी का तिरस्कार न करता हो, क्रोध को अधिक समय तक न रखता हो—शीघ्र ही शान्त हो जाता हो, अपने से मित्रता का व्यवहार रखनेवालों के प्रति पूरा सद्भाव रखता हो, शास्त्रोंके अध्ययन का गर्व न करता हो, किसी के दोषों का भण्डाफोड़ न करता हो, मित्रों पर क्रोधित न होता हो, अप्रिय मित्र की भी पीठ-पीछे भलाई ही करता हो, किसी प्रकार का झगड़ा-फसाद न करता हो, बुद्धिमान हो, अभिजात अर्थात् कुलीन हो, लज्जाशील हो, एकाग्र हो।

(८०)

आणाऽनिद्देसकरे, गुरूणमणुववायकारए ।
पडिणीए असंबुद्धे, अविणीए त्ति वुच्चइ ॥११॥

[उत्तरा० अ० १ गा० ३]

(८१-८३)

अभिक्खणं कोही हवइ, पबन्धं च पकुव्वई ।
मेत्तिज्जमाणो वमइ, सुयं लद्धूण मज्जई ॥१२॥
अवि पावपरिक्खेवी, अवि मित्तेसु कुप्पइ ।
सुप्पियस्साऽवि मित्तस्स, रहे भासइ पावगं ॥१३॥
पइण्णवादी दुहिले, थद्धे लुद्धे अणिग्गहे ।
असंविभागी अचियत्ते अविणीए त्ति वुच्चइ ॥१४॥

[उत्तरा० अ० ११ गा० ७-८-९]

(८४)

जस्सन्तिए धम्मपयाइं सिक्खे,
तस्सन्तिए वेणइयं पउंजे ।
सक्कारए सिरसा पंजलीओ,
काय-गिरा भो ! मणसा य निच्चं ॥१५॥

[दश० अ० ९ उ० १ गा० १२]

(८०)

जो गुरु की आज्ञा का पालन नहीं करता, जो उनके पास नहीं रहता, जो उनसे शत्रुता का बर्ताव रखता है, जो विवेक-शून्य है, उसे अविनीत कहते हैं।

(८१-८३)

जो बार-बार क्रोध करता है, जिसका क्रोध शीघ्र ही शान्त नहीं होता, जो मित्रता रखनेवालों का भी तिरस्कार करता है, जो शास्त्र पढ़कर गर्व करता है, जो दूसरों के दोषों को प्रकट करता रहता है, जो अपने मित्रों पर भी क्रुद्ध हो जाता है, जो अपने प्यारे-से-प्यारे मित्र की भी पीठ-पीछे बुराई करता है; जो मनमाना बोल उठता है—बकवादी है, जो स्नेही-जनों से भी द्रोह रखता है, जो अहंकारी है, जो लुब्ध है, जो इन्द्रियनिग्रही नहीं, जो आहार आदि पाकर अपने साधर्मी को न देकर अकेला ही खानेवाला अविसंभागी है, जो सबको अप्रिय है, वह अविनीत कहलाता है।

(८४)

शिष्य का कर्त्तव्य है कि वह जिस गुरु से धर्म-प्रवचन सीखे, उसकी निरन्तर विनय-भक्ति करे। मस्तक पर अंजलि चढ़ाकर गुरु के प्रति सम्मान प्रदर्शित करे। जिस तरह भी हो सके मन से, वचन से और शरीर से हमेशा गुरु की सेवा करे।

(८५)

थंभा व कोहा व मयप्पमाया,
गुरुस्सगासे विणयं न सिक्खे ।
सो चेव उ तस्स अभूइभावो,
फलं व कीयस्स वहाय होइ ॥१६॥

[दश० अ० ६ उ० १ गा० १]

(८६)

विवत्ती अविणीयस्स, संपत्ती विणीयस्स य ।
जस्सेयं दुहओ नायं, सिक्खं से अभिगच्छइ ॥१७॥

[दश० अ० ६ उ० २ गा० २२]

(८५)

जो शिष्य अभिमान, क्रोध, मद या प्रमाद के कारण गुरु को विनय (भक्ति) नहीं करता, वह अभूति अर्थात् पतन को प्राप्त होता है। जैसे बाँस का फल उसके ही नाश के लिए होता है, उसी प्रकार अविनीत का ज्ञान-बल भी उसी का सर्व-नाश करता है।

(८६)

'अविनीत को विपत्ति प्राप्त होती है, और विनीत को सम्पत्ति'—ये दो बातें जिसने जान ली हैं, वही शिक्षा प्राप्त कर सकता है।

चाउरंगिज्ज-सुत्तं

(८७)

चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जन्तुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं ॥१॥

[उत्तरा० अ० ३ गा० १]

(८८)

एगया खत्तिओ होइ, तओ चंडाल-वुक्कसो।
तओ कीड-पयंगो य, तओ कुन्थु-पिवीलिया ॥२॥

[उत्तरा० अ० ३ गा० ४]

(८९)

एवमावट्टजोणीसु पाणिणो कम्मकिब्बिसा।
न निव्विज्जन्ति संसारे, सव्वट्ठेसु व खत्तिया ॥३॥

[उत्तरा० अ० ३ गा० ५]

(९०)

कम्मसंगेहिं सम्मूढा, दुक्खिया बहुवेयणा।
अमाणुसासु जोणीसु, विणिहम्मन्ति पाणिणो ॥४॥

[उत्तरा० अ० ३ गा० ६]

: १० :

चतुरङ्गीय—सूत्र

(८७)

संसार में जीवों को इन चार श्रेष्ठ अङ्गों (जीवन-विकास के साधनों) का प्राप्त होना बड़ा दुर्लभ है :

मनुष्यत्व, धर्मश्रवण, श्रद्धा और संयम में पुरुषार्थ।

(८८)

कभी वह क्षत्रिय होता है और कभी चाण्डाल, कभी वर्ण-संकर—बुक्कस, कभी कीड़ा, कभी पतङ्ग, कभी कुंथुआ, तो कभी चींटी होता है।

(८९)

पाप-कर्म करनेवाले प्राणी इस भाँति हमेशा बदलती रहने वाली योनियों में बारम्बार पैदा होते रहते हैं, किंतु इस दुःखपूर्ण संसार से कभी खिन्न नहीं होते, जैसे दुःखपूर्ण राज्य से क्षत्रिय।

(९०)

जो प्राणी काम-वासनाओं से विमूढ़ हैं, वे भयङ्कर दुःख तथा वेदना भोगते हुए चिरकाल तक मनुष्येतर योनियों में भटकते रहते हैं।

(६१)

कम्माणं तु पहाणाए, आणुपुव्वी कयाइ उ।
जीवा सोहिमणुप्पत्ता, आययन्ति मणुस्सयं ॥५॥

[उत्तरा० अ० ३ गा० ७]

(६२)

माणुस्सं विग्गहं लद्धुं, सुई धम्मस्स दुल्लहा।
जं सोच्चा पडिवज्जन्ति, तवं खन्तिमहिंसयं ॥६॥

[उत्तरा० अ० ३ गा० ८]

(६३)

आहच्च सवणं लद्धुं, सद्धा परमदुल्लहा।
सोच्चा नेयाउयं मग्गं, बहवे परिभस्सई ॥७॥

[उत्तरा० अ० ३ गा० ९]

(६४)

सुइं च लद्धुं सद्धं च, वीरियं पुण दुल्लहं।
बहवे रोयमाणा वि, नो य णं पडिवज्जए ॥८॥

[उत्तरा० अ० ३ गा० १०]

(६१)

संसार में परिभ्रमण करते-करते जब कभी बहुत काल में पाप-कर्मों का वेग क्षीण होता है और उसके फलस्वरूप अन्तरात्मा क्रमशः शुद्धि को प्राप्त करता है; तब कहीं मनुष्य-जन्म मिलता है।

(६२)

मनुष्य-शरीर पा लेने पर भी सद्धर्मका श्रवण दुर्लभ है, जिसे सुनकर मनुष्य तप, क्षमा और अहिंसा को स्वीकार करते हैं।

(६३)

सौभाग्य से यदि कभी धर्म का श्रवण हो भी जाय, तो उस पर श्रद्धा का होना अत्यन्त दुर्लभ है। कारण कि बहुत-से लोग न्याय-मार्ग को—सत्य-सिद्धान्त को—सुनकर भी उससे दूर रहते हैं—उसपर विश्वास नहीं रखते।

(६४)

सद्धर्म का श्रवण और उसपर श्रद्धा—दोनों प्राप्त कर लेने पर भी उनके अनुसार पुरुषार्थ करना तो और भी कठिन है। क्योंकि संसार में बहुत-से लोग ऐसे हैं, जो सद्धर्म पर दृढ़ विश्वास रखते हुए भी उसे आचरण में नहीं लाते!

(६५)

माणुसत्तम्मि आयाओ, जो धम्मं सोच सद्दहे ।
तवस्सी वीरियं लद्धुं, संवुडे निद्धुणे रयं ॥९॥

[उत्तरा० अ० ३ गा० ११]

(६६)

सोही उज्जुयभूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ ।
निव्वाणं परमं जाइ, घयसित्ते व पावए ॥१०॥

[उत्तरा० अ० ३ गा० १२]

(६७)

विगिंच कम्मुणो हेउं, जसं संचिणु खन्तिए ।
सरीरं पाढवं हिच्चा, उड्ढं पक्कमई दिसं ॥११॥

[उत्तरा० अ० ३ गा० १३]

(६८)

चउरंगं दुल्लहं, मत्ता, संजमं पडिवज्जिया ।
तवसा धुयकम्मंसे, सिद्धे हवइ सासए ॥१२॥

[उत्तरा० अ० ३ गा० २०]

(६५)

परन्तु जो तपस्वी मनुष्यत्व को पाकर, सद्धर्म का श्रवण कर, उसपर श्रद्धा लाता है और तदनुसार पुरुषार्थ कर आस्रव-रहित हो जाता है, वह अन्तरात्मा पर से कर्म-रज को झटक देता है।

(६६)

जो मनुष्य निष्कपट एवं सरल होता है, उसी की आत्मा शुद्ध होती है। और, जिस की आत्मा शुद्ध होती है, उसी के पास धर्म ठहर सकता है। घी से सींची हुई अग्नि जिस प्रकार पूर्ण प्रकाश को पाती है, उसी प्रकार सरल और शुद्ध साधक ही पूर्ण निर्वाण को प्राप्त होता है।

(६७)

कर्मों के पैदा करनेवाले कारणों को ढूँढो—उनका छेद करो, और फिर क्षमा आदि के द्वारा अक्षय यश का संचय करो। ऐसा करनेवाला मनुष्य इस पार्थिव शरीर को छोड़कर ऊर्ध्व-दिशा को प्राप्त करता है—अर्थात् उच्च और श्रेष्ठ गति पाता है।

(६८)

जो मनुष्य उक्त चार अंगों को दुर्लभ जानकर संयम-मार्ग स्वीकार करता है, वह तप के द्वारा सब कर्मांशों का नाश कर सदा के लिये सिद्ध हो जाता है।

: ११ :

अप्पमाय-सुत्तं

(९९)

असंखयं जीविय मा पमायए,
जरोवणीयस्स हु नत्थि ताणं ।
एवं विजाणाहि जणे पमत्ते,
कं नु विहिंसा अजया गहिन्ति ? ॥१॥

[उत्तरा० अ० ४ गा० १]

(१००)

जे पावकम्मेहि धणं मणुस्सा,
समाययन्ति अमयं गहाय ।
पहाय ते पासपयट्टिए नरे,
वेराणुबद्धा नरयं उवेन्ति ॥२॥

[उत्तरा० अ० ४ गा० २]

(१०१)

वित्तेण ताणं न लभे पमत्त,
इमम्मि लोए अदुवा परत्थ ।
दीवप्पणट्ठे व अणंतमोहे
नेयाउयं दट्ठुमदट्ठुमेव ॥३॥

[उत्तरा० अ० ४ गा० ५]

: ११

अप्रमाद-सूत्र

(९९)

जीवन असंस्कृत है—अर्थात् एक बार टूट जाने के बाद फिर नहीं जुड़ता; अतः एक क्षण भी प्रमाद न करो।

'प्रमाद, हिंसा और असंयम में अमूल्य यौवन-काल बिता देने के बाद जब वृद्धावस्था आवेगी, तब तुम्हारी कौन रक्षा करेगा — तब किस की शरण लोगे?' यह खूब सोच-विचार लो।

(१००)

जो मनुष्य अनेक पाप-कर्म कर, वैर-विरोध बढ़ाकर अमृत की तरह धन का संग्रह करते हैं, वे अन्त में कर्मों के दृढ़ पाश में बँधे हुए सारी धन-सम्पत्ति यहीं छोड़कर, नरक को प्राप्त होते हैं।

(१०१)

प्रमत्त पुरुष धन के द्वारा न तो इस लोक में ही अपनी रक्षा कर सकता है और न परलोक में! फिर भी धन के असीम मोह से मूढ़ मनुष्य, दीपक के बुझ जाने पर जैसे मार्ग नहीं दीख पड़ता, वैसे ही न्याय-मार्ग को देखते हुए भी नहीं देख पाता।

(१०२)

तेणे जहा सन्धिमुहे गहीए,
सकम्मुणा किच्चइ पावकारी ।
एवं पया पेच्च इहं च लोए,
कडाण कम्माण न मुक्ख अत्थि ॥४॥
[उत्तरा० अ० ४ गा० ३]

(१०३)

संसारमावन्न परस्स अट्ठा,
साहारणं जं च करेइ कम्मं ।
कम्मस्स ते तस्स उ वेयकाले,
न बन्धवा बन्धवयं उवेन्ति ॥५॥
[उत्तरा० अ० ४ गा० ४]

(१०४)

सुत्तेसु या वि पडिबुद्धजीवी,
न वीससे पंडिए आसुपन्ने ।
घोरा मुहुत्ता अबलं सरीरं,
भारंडपक्खी व चरेऽप्पमत्ते ॥६॥
[उत्तरा० अ० ४ गा० ६]

(१०२)

जैसे चोर सेंध के द्वार पर पकड़ा जाकर अपने ही दुष्कर्म के कारण चीरा जाता है, वैसे ही पाप करनेवाला प्राणी भी इस लोक में तथा परलोक में—दोनों ही जगह—भयङ्कर दुःख पाता है। क्योंकि कृत कर्मों को भोगे बिना कभी छुटकारा नहीं हो सकता।

(१०३)

संसारी मनुष्य अपने प्रिय कुटुम्बियों के लिए बुरे-से-बुरे पाप-कर्म भी कर डालता है, पर जब उनके दुष्फल भोगने का समय आता है, तब अकेला ही दुःख भोगता है, कोई भी भाई-बन्धु उसका दुःख बँटानेवाला—सहायता पहुँचानेवाला नहीं होता।

(१०४)

आशु-प्रज्ञ पंडित-पुरुष को मोह-निद्रा में सोते रहनेवाले संसारी मनुष्यों के बीच रहकर भी सब ओर से जागरूक रहना चाहिए—किसीका विश्वास नहीं करना चाहिए। 'काल निर्दय है और शरीर निर्बल' यह जानकर भारण्ड पक्षी की तरह हमेशा अप्रमत्त भाव से विचरना चाहिए।

(१०५)

चरं पयाइं परिसंकमाणो,
जं किंचि पासं इह मण्णमाणो ।
लाभन्तरे जीवियं वूहइत्ता,
पच्छा परिन्नाय मलावधंसी ॥७॥
[उत्तरा० अ० ४ गा० ७]

(१०६)

छन्दंनिरोहेण उवेइ मोक्खं,
आसे जहा सिक्खिय-वम्मधारी ।
पुव्वाइं वासाइं चरेऽप्पमत्तो,
तम्हा मुणी खिप्पमुवेइ मोक्खं ॥८॥
[उत्तरा० अ० ४ गा० ८]

(१०७)

स पुव्वमेवं न लभेज्ज पच्छा,
एसोवमा सासयवाइयाणं ।
विसीयई सिढिले आउयम्मि,
कालोवणीए सरीरस्स भेए ॥९॥
[उत्तरा० अ० ४ गा० ९]

(१०५)

संसार में जो धन जन आदि पदार्थ हैं, उन सब को पाशरूप जानकर मुमुक्षु को बड़ी सावधानी से फूँक-फूँक कर पाँव रखना चाहिये। जबतक शरीर सशक्त है, तबतक उसका उपयोग अधिक से अधिक संयम-धर्म की साधना के लिए कर लेना चाहिए। बाद में जब वह बिलकुल ही अशक्त हो जावे, तब बिना किसी मोह-ममताके मिट्टी के ढेले के समान उसका त्याग कर देना चाहिए।

(१०६)

जिस प्रकार शिक्षित (सधा हुआ) तथा कवचधारी घोड़ा युद्ध में विजय प्राप्त करता है, उसी प्रकार विवेकी मुमुक्षु भी जीवन-संग्राम में विजयी होकर मोक्ष प्राप्त करता है। जो मुनि दीर्घकाल तक अप्रमत्तरूप से संयम-धर्म का आचरण करता है, वह शीघ्रातिशीघ्र मोक्ष-पद पाता है।

(१०७)

शाश्वत-वादी लोग कल्पना किया करते हैं कि 'सत्कर्म-साधना की अभी क्या जल्दी है, आगे कर लेंगे!' परन्तु यों करते-करते भोग-विलास में ही उनका जीवन समाप्त हो जाता है, और एक दिन मृत्यु सामने आ खड़ी होती है, शरीर नष्ट हो जाता है। अन्तिम समय में कुछ भी नहीं बन पाता; उस समय तो मूर्ख मनुष्य के भाग्य में केवल पछताना ही शेष रहता है।

(१०८)

खिप्पं न सक्केइ विवेगमेउं,
तम्हा समुट्ठाय पहाय कामे ।
समिच्च लोयं समया महेसी,
आयाणुरक्खी चरमप्पमत्ते ॥१०॥

[उत्तरा० अ० ४ गा० १०]

(१०९)

मुहुं मुहुं मोहगुणे जयन्तं,
अणेगरूवा समणं चरन्तं ।
फासा फुसन्ती असमंजसं च,
न तेसि भिक्खू मणसा पउस्से ॥११॥

[उत्तरा० अ० ४ गा० ११]

(११०)

मन्दा य फासा बहुलोहणिज्जा,
तहप्पगारेसु मणं न कुज्जा ।
रक्खिज्ज कोहं विणएज्ज माणं,
मायं न सेवे पयहेज्ज लोहं ॥१२॥

[उत्तरा० अ० ४ गा० १२]

(१०८)

आत्म-विवेक झटपट प्राप्त नहीं हो जाता—इसके लिए भारी साधना की आवश्यकता है। महर्षि जनों को बहुत पहले से ही संयम-पथ पर दृढ़ता से खड़े होकर काम-भोगों का परित्याग कर, समतापूर्वक स्वार्थी संसार की वास्तविकता को समझकर अपनी आत्मा की पापों से रक्षा करते हुए सर्वदा अप्रमादीरूप से विचरना चाहिये।

(१०९)

मोह-गुणों के साथ निरन्तर युद्ध करके विजय प्राप्त करने-वाले श्रमण को अनेक प्रकार के प्रतिकूल स्पर्शों का भी बहुत बार सामना करना पड़ता है। परन्तु भिक्षु उनपर तनिक भी अपने मन को क्षुब्ध न करे— शान्त भाव से अपने लक्ष्य की ओर ही अग्रसर होता रहे।

(११०)

संयम-जीवन में मन्दता लाने वाले काम-भोग बहुत ही लुभावने मालूम होते हैं। परन्तु संयमी पुरुष उनकी ओर अपने मन को कभी आकृष्ट न होने दे। आत्म-शोधक साधक का कर्त्तव्य है कि वह क्रोध को दबाए, अहङ्कार को दूर करे, माया का सेवन न करे और लोभ को छोड़ दे।

(१११)

जे संखया तुच्छ परप्पवाई,
ते पिज्ज-दोसाणुगया परज्झा ।
एए अहम्मे त्ति दुगुंछमाणो,
कंखे गुणे जाव सरीरभेए ॥१३॥

[उत्तरा० अ० ४ गा० १३]

(१११)

जो मनुष्य ऊपर-ऊपर से संस्कृत जान पड़ते हैं परन्तु वस्तुतः तुच्छ हैं, दूसरों की निन्दा करनेवाले हैं, रागी-द्वेषी हैं, परवश हैं, वे सब अधर्माचरणवाले हैं—इस प्रकार विचार-पूर्वक दुर्गुणों से घृणा करता हुआ मुमुक्षु शरीर-नाश पर्यन्त (जीवन-पर्यन्त) केवल सद्गुणों की ही कामना करता रहे।

: ११-२ :

अप्पमाय-सुत्तं

(११२)

दुमपत्तए पंडुयए जहा निवडइ राइगणाण अच्चए।
एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१॥

(११३)

कुसग्गे जह ओसविन्दुए, थोवं चिट्ठइ लम्बमाणए।
एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२॥

(११४)

इइ इत्तरियम्मि आउए, जीवियए बहुपच्चवायए।
विहुणाहि रयं पुरेकडं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥३॥

(११५)

दुल्लहे खलु माणुसे भवे, चिरकालेण वि सव्व-पाणिणं।
गाढा य विवाग कम्मुणो, समयं गोयम ! मा पमायए ॥४॥

: ११-२ :

अप्रमाद-सूत्र

(११२)

जैसे वृक्ष का पत्ता पतझड़-ऋतुकालिक रात्रि-समूह के बीत जाने के बाद पीला होकर गिर जाता है, वैसे ही मनुष्यों का जीवन भी आयु समाप्त होने पर सहसा नष्ट हो जाता है। इसलिए हे गौतम! क्षण-मात्र भी प्रमाद न कर।

(११३)

जैसे ओस की बूँद कुशा की नोक पर थोड़ी देर तक ही रहती है, वैसे ही मनुष्यों का जीवन भी बहुत अल्प है— शीघ्र ही नष्ट हो जानेवाला है। इसलिये हे गौतम! क्षण-मात्र भी प्रमाद न कर।

(११४)

अनेक प्रकार के विघ्नों से युक्त अत्यन्त अल्प आयुवाले इस मानव-जीवन में पूर्व सञ्चित कर्मों की धूल को पूरी तरह झटक दे। इसके लिए हे गौतम! क्षण-मात्र भी प्रमाद न कर।

(११५)

दीर्घकाल के बाद भी प्राणियों को मनुष्य-जन्म का मिलना बड़ा दुर्लभ है, क्योंकि कृत-कर्मों के विपाक अत्यन्त प्रगाढ़ होते हैं। हे गौतम! क्षण-मात्र भी प्रमाद न कर।

(११६)

एवं भवसंसारे संसरइ, सुहासुहेहिं कम्मेहिं ।
जीवो पमायबहुलो, समयं गोयम ! मा पमायए ॥५॥

[उत्तरा० अ० १० गा० १५]

(११७)

लद्धूण वि माणुसत्तणं, आरियत्तं पुणरावि दुल्लभं ।
बहवे दस्सुया मिलक्खुया, समयं गोयम ! मा पमायए ॥६॥

(११८)

लद्धूण वि आरियत्तणं, अहीणपंचिन्दिया हु दुल्लहा ।
विगलिन्दियया हु दीसई, समयं ! गोयम मा पमायए ॥७॥

(११९)

अहीणपंचेन्दियत्तं पि से लहे, उत्तमधम्मसुई हु दुल्लहा ।
कुतित्थिनिसेवए जणे, समयं गोयम ! मा पमायए ॥८॥

(१२०)

लद्धूण वि उत्तमं सुइं, सद्दहणा पुणरावि दुल्लहा ।
मिच्छत्तनिसेवए जणे, समयं गोयम ! मा पमायए ॥९॥

(११६)

प्रमाद-बहुल जीव अपने शुभाशुभ कर्मों के कारण अनन्त बार भव-चक्र में इधर से उधर घूमा करता है। हे गौतम! क्षण-मात्र भी प्रमाद न कर।

(११७)

मनुष्य-जन्म पा लिया तो क्या? आर्यत्व का मिलना बड़ा कठिन है। बहुत-से जीव मनुष्यत्व पाकर भी दस्यु और म्लेच्छ जातियों में जन्म लेते हैं। हे गौतम! क्षण-मात्र भी प्रमाद न कर।

(११८)

आर्यत्व पाकर भी पाँचों इन्द्रियों को परिपूर्ण पाना बड़ा कठिन है। बहुत-से लोग आर्य क्षेत्र में जन्म लेकर भी विकल इन्द्रियों वाले देखे जाते हैं। हे गौतम! क्षण-मात्र भी प्रमाद न कर।

(११९)

पाँचों इन्द्रियाँ परिपूर्ण पाकर भी उत्तम धर्म का श्रवण प्राप्त होना कठिन है। बहुत से लोग पाखण्डी गुरुओं की सेवा किया करते हैं। हे गौतम! क्षण-मात्र भी प्रमाद न कर।

(१२०)

उत्तम धर्म का श्रवण पाकर भी उसपर श्रद्धा का होना बड़ा कठिन है। बहुत-से लोग सब कुछ जान-बूझकर भी मिथ्यात्व की उपासना में ही लगे रहते हैं। हे गौतम! क्षण-मात्र भी प्रमाद न कर।

(१२१)

धम्मं पि हु सद्दहन्तया, दुल्लहया काएण फासया ।
इह कामगुणेहि मुच्छिया, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२०॥

[उत्तरा० अ० १० गा० १९-२०]

(१२२)

परिजूरइ ते सरीरयं, केसा पंडुरया हवन्ति ते ।
से सव्वबले य हायई, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२१॥

[उत्तरा० अ० १० गा० २६]

(१२३)

अरई गण्डं विसूइया, आयंका विविहा फुसन्ति ते ।
विहडइ विद्धंसइ ते सरीरयं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२२॥

(१२४)

वोच्छिन्द सिणेहमप्पणो, कुमुयं सारइयं व पाणियं ।
से सव्वसिणेहवज्जिए, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२३॥

(१२५)

चिच्चाण धणं च भारियं, पव्वइओ हि सि अणगारियं ।
मा वन्तं पुणो वि आविए, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२४॥

(१८१)

धर्म पर श्रद्धा होने पर भी शरीर से धर्म का आचरण करना बड़ा कठिन है। संसार में बहुत-से धर्म-श्रद्धालु मनुष्य भी काम-भोगों में मूर्च्छित रहते हैं। हे गौतम! क्षण-मात्र भी प्रमाद न कर।

(१८२)

तेरा शरीर दिन-प्रति-दिन जीर्ण होता जा रहा है, सिर के बाल पककर श्वेत होने लगे हैं, अधिक क्या—शारीरिक और मानसिक सभी प्रकार का बल घटता जा रहा है। हे गौतम! क्षण-मात्र भी प्रमाद न कर।

(१८३)

अरुचि, फोड़ा, विसूचिका (हैजा) आदि अनेक प्रकार के रोग शरीर में बढ़ते जा रहे हैं; इनके कारण तेरा शरीर बिल्कुल क्षीण तथा ध्वस्त हो रहा है। हे गौतम! क्षण-मात्र भी प्रमाद न कर।

(१८४)

जैसे कमल शरत्काल के निर्मल जल को भी नहीं छूता—अलग अलिप्त रहता है, उसी प्रकार तू भी संसार से अपनी समस्त आसक्तियाँ दूर कर, सब प्रकार के स्नेह बन्धनों से रहित हो जा। हे गौतम! क्षण-मात्र भी प्रमाद न कर।

(१८५)

स्त्री और धन का परित्याग करके तू महान् अनगार पद को पा चुका है, इसलिए अब फिर इन वमन की हुई वस्तुओं का पान न कर। हे गौतम! क्षण-मात्र भी प्रमाद न कर।

(१२६)

अवउज्झिय मित्तबन्धवं, विउलं चेव धणोहसंचयं ।
मा तं बिइयं गवेसए, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२५॥

[उत्तरा० अ० १० गा० २९-३०]

(१२७)

अबले जह भारवाहए, मा मग्गे विसमेऽवगाहिया ।
पच्छा पच्छाणुतावए, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२६॥

(१२८)

तिण्णो हु सि अण्णवं महं, किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ ?
अभितुर पारं गमित्तए, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२७॥

[उत्तरा० अ० १० गा० ३३-३४]

(१२९)

बुद्धस्स निसम्म भासियं, सुकहियमट्ठपओवसोहियं ।
रागं दोसं च छिन्दिया, सिद्धिगइं गए गोयमे ॥२८॥

[उत्तरा० अ० १० गा० ३७]

(१२६)

विपुल धनराशि तथा मित्र-बान्धवों को एकबार स्वेच्छा-पूर्वक छोड़कर, अब दोबारा उनकी गवेषणा (पूछताछ) न कर। हे गौतम! क्षण-मात्र भी प्रमाद न कर।

(१२७)

घुमावदार विषम मार्ग को छोड़कर तू सीधे और साफ मार्ग पर चल। विषम मार्ग पर चलनेवाले निर्बल भार-वाहक की तरह बाद में पछतानेवाला न बन। हे गौतम! क्षण-मात्र भी प्रमाद न कर।

(१२८)

तू विशाल संसार-समुद्र को तैर चुका है, अब भला किनारे आकर क्यों अटक रहा है? उस पार पहुँचने के लिए जितनी भी हो सके शीघ्रता कर। हे गौतम! क्षण-मात्र भी प्रमाद न कर।

(१२९)

भगवान् महावीर के इस भाँति अर्थयुक्त पदोंवाले सुभाषित वचनों को सुनकर श्री गौतम स्वामी राग तथा द्वेष का छेदन कर सिद्ध-गति को प्राप्त हो गये।

: १८ :

पमायट्ठाण-सुत्तं

(१३०)

पमायं कम्ममाहंसु, अप्पमायं तहावरं ।
तब्भावादेसओ वावि, बालं पंडियमेव वा ॥१॥

[सूत्र० अ० १ अ० ८ गा० ३]

(१३१)

जहा य अंडप्पभवा बलागा,
अंडं बलागप्पभवं जहा य ।
एमेव मोहाययणं खु तण्हा,
मोहं च तण्हाययणं वयन्ति ॥२॥

(१३२)

रागो य दोसो वि य कम्मबीयं,
कम्मं च मोहप्पभवं वयन्ति ।
कम्मं च जाईमरणस्स मूलं,
दुक्खं च जाईमरणं वयन्ति ॥३॥

: १२ :

प्रमाद-स्थान-सूत्र

(१३०)

प्रमाद को कर्म कहा गया है और अप्रमाद को अकर्म--अर्थात् जो प्रवृत्तियाँ प्रमाद-युक्त हैं वे कर्म-बन्धन करनेवाली हैं, और जो प्रवृत्तियाँ प्रमाद रहित हैं वे कर्म-बन्धन नहीं करतीं। प्रमाद के होने और न होने से ही मनुष्य क्रमशः मूर्ख और पंडित कहलाता है।

(१३१)

जिस प्रकार बगुली अंडे से पैदा होती है और अंडा बगुली से पैदा होता है, उसी प्रकार मोह का उत्पत्ति-स्थान तृष्णा है और तृष्णा का उत्पत्ति-स्थान मोह है।

(१३२)

राग और द्वेष—दोनों कर्म के बीज हैं। अतः मोह ही कर्म का उत्पादक माना गया है। कर्म-सिद्धान्त के अनुभवी लोग कहते हैं कि संसार में जन्म-मरण का मूल कर्म है, और जन्म-मरण—यही एकमात्र दुःख है।

(१३३)

दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो,
　　मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा ।
तण्हा हया जस्स न होइ लोहो,
　　लोहो हओ जस्स न किंचणाइं ॥४॥

[उत्तरा० अ० ३२ गा० ६-८]

(१३४)

रसा पगामं न निसेवियव्वा,
　　पायं रसा दित्तिकरा नराणं ।
दित्तं च कामा समभिद्दवन्ति,
　　दुमं जहा साउफलं व पक्खी ॥५॥

[उत्तरा० अ० ३२ गा० १०]

(१३५)

रूवेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
　　अकालियं पावइ से विणासं ।
रागाउरे से जह वा पयंगे,
　　आलोयलोले समुवेइ मच्चुं ॥६॥

[उत्तरा० अ० ३२ गा० २४]

(१३३)

जिसे मोह नहीं उसे दुःख नहीं; जिसे तृष्णा नहीं उसे मोह नहीं; जिसे लोभ नहीं उसे तृष्णा नहीं; और जिसके पास लोभ करने योग्य कोई पदार्थ-संग्रह नहीं है, उसमें लोभ भी नहीं।

(१३४)

दूध-दही आदि रसों का अधिक मात्रा में सेवन नहीं करना चाहिए; क्योंकि रस प्रायः मनुष्यों में मादकता पैदा करते हैं। मत्त मनुष्य की ओर काम-वासनायें वैसे ही दौड़ी आती हैं, जैसे स्वादिष्ट फलवाले वृक्ष की ओर पक्षी।

(१३५)

जो मूर्ख मनुष्य सुन्दर रूप के प्रति तीव्र आसक्ति रखता है, वह अकाल में ही नष्ट हो जाता है। रागातुर व्यक्ति रूपदर्शन की लालसा में वैसे ही मृत्यु को प्राप्त होता है, जैसे दीपक की ज्योति को देखने की लालसा में पतंग।

(१३६)

रूवाणुरत्तस्स नरस्स एवं,
कुत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि ।
तत्थोवभोगे वि किलेस-दुक्खं,
निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं ॥७॥

(१३७)

एमेव रूवम्मि गओ पओसं,
उवेइ दुक्खोहपरंपराओ ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं,
जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥८॥

(१३८)

रूवे विरत्तो मणुओ विसोगो,
एएण दुक्खोहपरंपरेण ।
न लिप्पए भवमज्झे वि सन्तो,
जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ॥९॥

[उत्तरा० अ० ३२ गा० ३२-३४]

(१३९)

एविन्दियत्था य मणस्स अत्था,
दुक्खस्स हेउं मणुयस्स रागिणो ।
ते चेव थोवं पि कयाइ दुक्खं,
न वीयरागस्स करेन्ति किंचि ॥१०॥

[उत्तरा० अ० ३२ गा० १००]

(१३६)

रूप में आसक्त मनुष्य को कहीं भी कभी किंचिन्मात्र सुख नहीं मिल सकता। खेद है कि जिसकी प्राप्ति के लिये मनुष्य महान् कष्ट उठाता है, उसके उपभोग में कुछ भी सुख न पाकर क्लेश तथा दुःख ही पाता है।

(१३७)

जो मनुष्य कुत्सित रूपों के प्रति द्वेष रखता है, वह भविष्य में असीम दुःख-परंपरा का भागी होता है। प्रदुष्टचित्त द्वारा ऐसे पापकर्म संचित किये जाते हैं, जो विपाक-काल में भयंकर दुःख-रूप होते हैं।

(१३८)

रूप-विरक्त मनुष्य ही वास्तव में शोक-रहित है। वह संसार में रहते हुये भी दुःख-प्रवाह से अलिप्त रहता है, जैसे कमल का पत्ता जल से।

(१३९)

रागी मनुष्य के लिए ही उपर्युक्त इन्द्रियों तथा मन के विषय-भोग दुःख के कारण होते हैं। परन्तु वीतरागी को किसी प्रकार कभी तनिक-सा दुःख नहीं पहुँचा सकते।

(१४०)

न कामभोगा समयं उवेन्ति,
न यावि भोगा विगइं उवेन्ति ।
जे तप्पओसी य परिग्गही य,
सो तेसु मोहा विगइं उवेइ ॥११॥

[उत्तरा० अ० ३२ गा० १०१]

(१४१)

अणाइकालप्पभवस्स एसो,
सव्वस्स दुक्खस्स पमोक्खमग्गो ।
वियाहिओ जं समुविच्च सत्ता,
कमेण अच्चन्तसुही भवन्ति ॥१२॥

[उत्तरा० अ० ३२ गा० १११]

(१४०)

काम-भोग अपने-आप न किसी मनुष्य में समभाव पैदा करते हैं और न किसी में राग-द्वेषरूप विकृति पैदा करते हैं। परन्तु मनुष्य स्वयं ही उनके प्रति राग-द्वेष के नाना संकल्प बनाकर मोह से विकार-ग्रस्त हो जाता है।

(१४१)

अनादि काल से उत्पन्न होते रहने वाले सभी प्रकार के सांसारिक दुःखों से छूट जाने का यह मार्ग ज्ञानी पुरुषों ने बतलाया है। जो प्राणी उक्त मार्ग का अनुसरण करते हैं वे क्रमशः मोक्ष-धाम प्राप्त कर अत्यन्त सुखी होते हैं।

कसाय-सुत्तं

(१४२)

कोहो य माणो य अणिग्गहीया,
    माया य लोभो य पवड्ढमाणा ।
चत्तारि एए कसिणा कसाया,
    सिंचन्ति मूलाइं पुणब्भवस्स ॥१॥

[दश० अ० ८ गा० ४०]

(१४३)

कोहं माणं च मायं च, लोभं च पाववड्ढणं ।
वमे चत्तारि दोसे उ, इच्छन्तो हियमप्पणो ॥२॥

[दश० अ० ८ गा० ३७]

(१४४)

कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो ।
माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सव्वविणासणो ॥३॥

[दश० अ० ८ गा० ३८]

(१४५)

उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे ।
मायमज्जवभावेण, लोभं संतोसओ जिणे ॥४॥

[दश० अ० ८ गा० ३९]

: १३ :

कषाय-सूत्र

(१४२)

अनिगृहीत क्रोध और मान; तथा प्रवर्द्धमान (बढ़ते हुए) माया और लोभ—ये चारों ही काले कुत्सित कषाय पुनर्जन्म रूपी संसार-वृक्ष की जड़ों को सींचते हैं ।

(१४३)

जो मनुष्य अपना हित चाहता है उसे पाप को बढ़ानेवाले क्रोध, मान, माया और लोभ—इन चार दोषों को सदा के लिये छोड़ देना चाहिए ।

(१४४)

क्रोध प्रीति का नाश करता है; मान विनय का नाश करता है; माया मित्रता का नाश करती है; और लोभ सभी सद्‌गुणों का नाश कर देता है ।

(१४५)

शान्ति से क्रोध को मारो; नम्रता से अभिमान को जीतो; सरलता से माया का नाश करो; और सन्तोष से लोभ को काबू में लाओ ।

(१४६)

कसिणं पि जो इमं लोयं, पडिपुण्णं दलेज्ज इक्कस्स ।
तेणाऽवि से न संतुस्से, इइ दुप्पूरए इमे आया ॥५॥

(१४७)

जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढइ ।
दोमासकयं कज्जं, कोडीए वि न निट्ठियं ॥६॥

[उत्तरा० अ० ८ गा० १६-१७]

(१४८)

अहे वयन्ति कोहेण, माणेणं अहमा गई ।
माया गइपडिग्घाओ, लोहाओ दुहओ भयं ॥७॥

[उत्तरा० अ० ९ गा० ५४]

(१४९)

सुवण्ण-रुप्पस्स उ पव्वया भवे,
    सिया हु केलाससमा असंखया ।
नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि,
    इच्छा हु आगाससमा अणन्तिया ॥८॥

(१५०)

पुढवी साली जवा चेव, हिरण्णं पसुभिस्सह ।
पडिपुण्णं नालमेगस्स, इइ विज्जा तवं चरे ॥९॥

[उत्तरा० अ० ९ गा० ४८-४९]

(१४६)

अनेक प्रकार के बहुमूल्य पदार्थों से परिपूर्ण यह समग्र विश्व यदि किसी मनुष्य को दे दिया जावे, तो भी वह सन्तुष्ट न होगा। अहो! मनुष्य की यह तृष्णा बड़ी दुष्पूर है!

(१४७)

ज्यों-ज्यों लाभ होता जाता है, त्यों-त्यों लोभ भी बढ़ता जाता है। देखो न, पहले केवल दो मासे सुवर्ण की आवश्यकता थी; पर बाद में वह करोड़ों से भी पूरी न हो सकी।

(१४८)

क्रोध से मनुष्य नीचे गिरता है, अभिमान से अधम गति में जाता है, माया से सद्गति का नाश होता है और लोभ से इस लोक तथा परलोक में महान् भय है।

(१४९)

चाँदी और सोने के कैलास के समान विशाल असंख्य पर्वत भी यदि पास में हों, तो भी लोभी मनुष्य की तृप्ति के लिए वे कुछ भी नहीं। कारण कि तृष्णा आकाश के समान अनन्त है।

(१५०)

चाँवल और जौ आदि धान्यों तथा सुवर्ण और पशुओं से परिपूर्ण यह समस्त पृथिवी भी लोभी मनुष्य को तृप्त कर सकने में असमर्थ है—यह जानकर संयम का ही आचरण करना चाहिए।

(१५१)

कोहं च माणं च तहेव मायं,
  लोभं चउत्थं अज्झत्थदोसा ।
एयाणि वन्ता अरहा महेसी,
  न कुव्वई पावं न कारवेई ॥१८॥

[सूत्र० श्रु० १ अ० ६ गा० २६]

(१५१)

क्रोध, मान, माया और लोभ—ये चार अन्तरात्मा के भयंकर दोष हैं। इनका पूर्णरूप से परित्याग करने वाले अर्हन्त महर्षि न स्वयं पाप करते हैं और न दूसरों से करवाते हैं।

काम-सुत्तं

(१५२)

सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा ।
कामे य पत्थेमाणा, अकामा जन्ति दोग्गइं ॥१॥

[उत्तरा० अ० ९ गा० ५३]

(१५३)

सव्वं विलवियं गीयं, सव्वं नट्टं विडम्बियं ।
सव्वे आभरणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा ॥२॥

[उत्तरा० अ० १३ गा० १६]

(१५४)

खणमेत्तसोक्खा बहुकालदुक्खा,
पगामदुक्खा अणिगामसोक्खा ।
संसारमोक्खस्स विपक्खभूया,
खाणी अणत्थाण उ कामभोगा ॥३॥

[उत्तरा० अ० १४ गा० १३]

(१५५)

जहा किंपागफलाण, परिणामो न सुंदरो ।
एवं भुत्ताण भोगाणं, परिणामो न सुन्दरो ॥४॥

[उत्तरा० अ० १९ गा० १७]

काम-सूत्र

(१५२)

काम-भोग शल्यरूप हैं, विषरूप हैं और विषधर के समान हैं। काम-भोगों की लालसा रखने वाले प्राणी उन्हें प्राप्त किए बिना ही अतृप्त दशा में एक दिन दुर्गति को प्राप्त हो जाते हैं।

(१५३)

गीत सब विलापरूप हैं; नाट्य सब विडम्बनारूप हैं; आभरण सब भाररूप हैं। अधिक क्या; संसार के जो भी काम-भोग हैं, सब-के-सब दुःखावह हैं।

(१५४)

काम-भोग क्षणमात्र सुख देनेवाले हैं और चिरकाल तक दुःख देने वाले। उनमें सुख बहुत थोड़ा है, अत्यधिक दुःख-ही-दुःख है। मोक्ष-सुख के वे भयंकर शत्रु हैं, अनर्थों की खान हैं।

(१५५)

जैसे किंपाक फलों का परिणाम अच्छा नहीं होता, उसी प्रकार भोगे हुए भोगों का परिणाम भी अच्छा नहीं होता।

(१५६)

जहा य किंपागफला मणोरमा,
रसेण वण्णेण य भुंजमाणा ।
ते खुड्डए जीविए पच्चमाणा ।
एओवमा कामगुणा विवागे ॥५॥

[उत्तरा० अ० ३२ गा० २०]

(१५७)

उवलेवो होइ भोगेसु, अभोगी नोवलिप्पई ।
भोगी भमइ संसारे, अभोगी विप्पमुच्चई ॥६॥

[उत्तरा० अ० २५ गा० ३९]

(१५८)

चीराजिणं नगिणिणं, जडी संघाडि मुंडिणं ।
एयाणि वि न तायन्ति, दुस्सीलं परियागयं ॥७॥

[उत्तरा० अ० ५ गा० २१]

(१५९)

जे केइ सरीरे सत्ता, वण्णे रूवे य सव्वसो ।
मणसा काय-वक्केणं, सव्वे ते दुक्खसंभवा ॥८॥

[उत्तरा० अ० ६ गा० १२]

(१६०)

अच्चेइ कालो तूरन्ति राइओ,
न यावि भोगा पुरिसाण निच्चा ।

(१५६)

जैसे किंपाक फल रूप-रंग और रस की दृष्टि से शुरू में खाते समय तो बड़े अच्छे मालूम होते हैं, पर खा लेने के बाद जीवन के नाशक हैं; वैसे ही कामभोग भी प्रारंभ में बड़े मनोहर लगते हैं, पर विपाक-काल में सर्वनाश कर देते हैं।

(१५७)

जो मनुष्य भोगी है — भोगासक्त है, वही कर्म-मल से लिप्त होता है; अभोगी लिप्त नहीं होता। भोगी संसार में परिभ्रमण किया करता है और अभोगी संसार बन्धन से मुक्त हो जाता है।

(१५८)

मृगचर्म, नग्नत्व, जटा, संघाटिका (बौद्ध भिक्षुओं का-सा उत्तरीय वस्त्र), और मुण्डन आदि कोई भी धर्मचिह्न दुःशील भिक्षु की रक्षा नहीं कर सकते।

(१५९)

जो अविवेकी मनुष्य मन, वचन और काया से शरीर, वर्ण तथा रूप में आसक्त रहते हैं, वे अपने लिए दुःख उत्पन्न करते हैं।

(१६०)

काल बड़ी द्रुत गति से चला जा रहा है, जीवन की एक-एक करके सब रात्रियाँ बीतती जा रही हैं, फल-स्वरूप काम-भोग

उविच्च भोगा पुरिसं चयन्ति,
दुमं जहा खीणफलं व पक्खी ॥६॥
[उत्तरा० अ० १३ गा० ३१]

(१६१)

अधुवं जीवियं नच्चा, सिद्धिमग्गं वियाणिया ।
विणिअट्टेज्ज भोगेसु, आउं परिमिअमप्पणो ॥१०॥
[दश० अ० ८ गा० ३४]

(१६२)

पुरिसोरम पावकम्मुणा, पलियन्तं मणुयाण जीवियं ।
सन्ना इह काममुच्छिया, मोहं जन्ति नरा असंवुडा ॥११॥
[सूत्र० श्रु० १ अ० २ उ० १ गा० १०]

(१६३)

संबुज्झह ! किं न बुज्झह ?
संबोही खलु पेच्च दुल्लहा ।
नो हूवणमन्ति राइओ,
नो सुलभं पुणरवि जीवियं ॥१२॥
[सूत्र० श्रु० १ अ० २ उ० १ गा० १]

(१६४)

दुप्परिच्चया इमे कामा, नो सुजहा अधीरपुरिसेहिं ।
अह सन्ति सुव्वया साहू, जे तरन्ति अतरं वणिया व ॥१३॥
[उत्तरा० अ० ८ गा० ६]

चिरस्थायी नहीं है। भोग-विलास के साधनों से रहित पुरुष को भोग वैसे ही छोड़ देते हैं, जैसे फलविहीन वृक्ष को पक्षी।

(१६१)

मानव-जीवन नश्वर है, उसमें भी आयु तो परिमित है, एक मोक्ष-मार्ग ही अविचल है, यह जानकर काम-भोगों से निवृत्त हो जाना चाहिए।

(१६२)

हे पुरुष ! मनुष्यों का जीवन अत्यन्त अल्प है—क्षणभंगुर है, अतः शीघ्र ही पापकर्म से निवृत्त हो जा। संसार में आसक्त तथा काम-भोगों से मूर्च्छित असंयमी मनुष्य बार-बार मोह को प्राप्त होते रहते हैं।

(१६३)

समझो, इतना क्यों नहीं समझते ? परलोक में सम्यक् बोधि का प्राप्त होना बड़ा कठिन है। बीती हुई रात्रियाँ कभी लौटकर नहीं आतीं। फिर से मनुष्य-जीवन पाना आसान नहीं।

(१६४)

काम-भोग बड़ी मुश्किल से छूटते हैं, अधीर पुरुष तो इन्हें सहसा छोड़ ही नहीं सकते। परन्तु जो महाव्रतों का पालन करने वाले साधुपुरुष हैं, वे ही दुस्तर भोग-समुद्र को तैर कर पार होते हैं, जैसे—व्यापारी वणिक समुद्र को।

असरण-सुत्तं

(१६५)

चित्तं पसवो य नाइओ, तं बाले सरणं ति मन्नई ।
एए मम तेसु वि अहं, नो ताणं सरणं न विज्जई ॥१॥

[सूत्र० श्रु० १ अ० २ उ० ३ गा० १६]

(१६६)

जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं, रोगाणि मरणाणि य ।
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसन्ति जन्तुणो ॥२॥

[उत्तरा० अ० १९ गा० १५]

(१६७)

इमं सरीरं अणिच्चं, असुइं असुइसंभवं ।
असासयावासमिणं, दुक्खकेसाण भायणं ॥३॥

[उत्तरा० अ० १९ गा० १२]

(१६८)

दाराणि सुया चेव, मित्ता य तह बन्धवा ।
जीवन्तमणुजीवन्ति, मयं नाणुवयन्ति य ॥४॥

[उत्तरा० अ० १८ गा० १४]

: १५ :

अशरण-सूत्र

(१६५)

मूर्ख मनुष्य धन, पशु और जातिवालों को अपना शरण मानता है और समझता है कि—'ये मेरे हैं' और 'मैं उनका हूँ'। परन्तु इनमें से कोई भी आपत्तिकाल में त्राण तथा शरण नहीं दे सकता।

(१६६)

जन्म का दुःख है, जरा (बुढ़ापा) का दुःख है, रोग और मरण का दुःख है। अहो! संसार दुःखरूप ही है! यही कारण है कि यहाँ प्रत्येक प्राणी जब देखो तब क्लेश ही पाता रहता है।

(१६७)

यह शरीर अनित्य है, अशुचि है, अशुचि से उत्पन्न हुआ है, दुःख और क्लेशों का धाम है। जीवात्मा का इसमें कुछ ही क्षणों के लिए निवास है, आखिर एक दिन तो अचानक छोड़कर चले ही जाना है।

(१६८)

स्त्री, पुत्र, मित्र और बन्धुजन, सब जीते जी के ही साथी हैं, मरने पर कोई भी साथ नहीं जाता।

(१६६)

वेया अहीया न भवन्ति ताणं,
भुत्ता दिया निन्ति तमं तमेणं ।
जाया य पुत्ता न हवन्ति ताणं,
को नाम ते अणुमन्नेज्ज एयं ॥५॥

[उत्तरा० अ० १४ गा० १२]

(१७०)

चिच्चा दुपयं च चउप्पयं च,
खेत्तं गिहं धण-धन्नं च सव्वं ।
कम्मप्पबीओ अवसो पयाइ,
परं भवं सुन्दरं पावगं वा ॥६॥

[उत्तरा० अ० १३ गा० २४]

(१७१)

जहेह सीहो व मियं गहाय,
मच्चू नरं नेइ हु अन्तकाले ।
न तस्स माया व पिया व भाया,
कालम्मि तस्संसहरा भवन्ति ॥७॥

[उत्तरा० अ० १३ गा० २२]

(१७२)

जमिणं जगई पुढो जगा कम्मेहिं लुप्पन्ति पाणिणो ।
सयमेव कडेहि गाहई, नो तस्स मुच्चेज्जऽपुट्ठयं ॥८॥

[सूत्र० श्रु० १ अ० २ उ० १ गा० ४]

(१६९)

पढ़े हुए वेद बचा नहीं सकते; जिमाये हुए ब्राह्मण अन्धकार से अन्धकार में ही ले जाते हैं, पैदा किये हुए पुत्र भी रक्षा नहीं कर सकते; ऐसी दशा में कौन विवेकी पुरुष इन्हें स्वीकार करेगा ?

(१७०)

द्विपद (दास, दासी आदि), चतुष्पद (गाय, घोड़े आदि), क्षेत्र, गृह और धन-धान्य सब कुछ छोड़कर विवशता की दशा में प्राणी अपने कृत कर्मों के साथ अच्छे या बुरे परभव में चला जाता है।

(१७१)

जिस तरह सिंह हिरण को पकड़कर ले जाता है; उसी तरह अंतसमय मृत्यु भी मनुष्य को उठा ले जाती है। उस समय माता पिता, भाई आदि कोई भी उसके दुःख में भागीदार नहीं होते— परलोक में उसके साथ नहीं जाते।

(१७२)

संसार में जितने भी प्राणी हैं, सब अपने कृत कर्मों के कारण ही दुखी होते हैं। अच्छा या बुरा जैसा भी कर्म हो, उसका फल भोगे बिना छुटकारा नहीं हो सकता।

(१७३)

असासए सरीरम्मि, रइं नोवलभामहं ।
पच्छा पुरा व चइयव्वे, फेणबुब्बुयसंनिभे ॥६॥
[उत्तरा० अ० १६ गा० १३]

(१७४)

माणुसत्ते असारम्मि, वाहि-रोगाण आलए ।
जरामरणघत्थम्मि, खणं पि न रमामहं ॥१०॥
[उत्तरा० अ० १६ गा० १४]

(१७५)

जीवियं चेव रूवं च, विज्जुसंपायचंचलं ।
जत्थ तं मुज्झसि रायं ! पेच्चत्थं नावबुज्झसि ॥११॥
[उत्तरा० अ० १८ गा० १३]

(१७६)

न तस्स दुक्खं विभयन्ति नाइओ,
न मित्तवग्गा न सुया न बन्धवा ।
एक्को सयं पच्चणुहोइ दुक्खं,
कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं ॥१२॥
[उत्तरा० अ० १३ गा० २३]

(१७७)

न चित्ता तायए भासा,
कुओ विज्जाणुसासणं ? ।
विसन्ना पावकम्मेहिं,
बाला पंडियमाणिणो ॥१३॥
[उत्तरा० अ० ६ गा० १०]

(१७३)

यह शरीर पानी के बुलबुले के समान क्षणभंगुर है, पहले या बाद में एक दिन इसे छोड़ना ही है, अतः इसके प्रति मुझे तनिक भी प्रीति (आसक्ति) नहीं है।

(१७४)

मानव-शरीर असार है, आधि-व्याधियों का घर है, जरा और मरण से ग्रस्त है; अतः मैं इसकी ओर से क्षणभर भी प्रसन्न नहीं होता।

(१७५)

मनुष्य का जीवन और रूप-सौन्दर्य बिजली की चमक के समान चंचल है ! आश्चर्य है, हे राजन्, तुम इसपर मुग्ध हो रहे हो ! क्यों नहीं परलोक का ख्याल करते ?

(१७६)

पापी जीव के दुःख को न जातिवाले बँटा सकते हैं, न मित्र वर्ग, न पुत्र; और न भाई-बन्धु। जब दुःख आ पड़ता है, तब वह अकेला ही उसे भोगता है। क्योंकि कर्म अपने कर्त्ता के ही पीछे लगते हैं, अन्य किसी के नहीं।

(१७७)

चित्र-विचित्र भाषा आपत्तिकाल में त्राण नहीं, करती इसी प्रकार मंत्रात्मक भाषा का अनुशासन भी त्राण करनेवाला कैसे हो सकता है ? अतः भाषा और मान्त्रिक विद्या से त्राण पानेकी आशावाले पंडितमन्य मूढ़ इन पापकर्मों में मग्न हो रहे हैं।

: १६ :

बाल-सुत्तं

(१७८)

भोगामिसदोसविसन्ने, हियनिस्सेयसबुद्धिवोच्चत्थे ।
बाले य मन्दिए मूढे, बज्झइ मच्छिया व खेलम्मि ॥१॥

[उत्तरा० अ० ८ गा० ५]

(१७९)

जे गिद्धे कामभोगेसु, एगे कूडाय गच्छई ।
न मे दिट्ठे परे लोए, चक्खुदिट्ठा इमा रई ॥२॥

[उत्तरा० अ० ५ गा० ५]

(१८०)

हत्थागया इमे कामा, कालिया जे अणागया ।
को जाणइ परे लोए, अत्थि वा नत्थि वा पुणो ॥३॥

(१८१)

जणेण सद्धिं होक्खामि, इइ बाले पगब्भइ ।
कामभोगाणुराएणं, केसं संपडिवज्जइ ॥४॥

: १६ :

बाल-सूत्र

(१७८)

जो बाल—मूर्ख मनुष्य काम-भोगों के मोहक दोषों में आसक्त हैं, हित तथा निःश्रेयस के विचार से शून्य हैं, वे मन्दबुद्धि संसार में वैसे ही फँस जाते हैं, जैसे मक्खी श्लेष्म (कफ) में।

(१७९)

जो मनुष्य काम-भोगों में आसक्त होते हैं, वे माया में फंस कर बुरे-से-बुरे पाप-कर्म कर डालते हैं। ऐसे लोगों की मान्यता होती है कि—'परलोक हमने देखा नहीं, और यह विद्यमान काम-भोगों का आनन्द तो प्रत्यक्ष-सिद्ध है।

(१८०)

"वर्तमान काल के काम-भोग हाथ में हैं—पूर्ण तया स्वाधीन हैं। भविष्यकाल में परलोक के सुखों का क्या ठिकाना—मिलें या न मिलें? और यह भी कौन जानता है कि परलोक है भी या नहीं।"

(१८१)

"मैं तो सामान्य लोगों के साथ रहूँगा—अर्थात् जैसी उनकी दशा होगी, वैसी मेरी भी हो जायगी"—मूर्ख मनुष्य इस प्रकार धृष्टता-भरी बातें किया करते हैं और काम-भोगों की आसक्ति के कारण अन्त में महान् क्लेश पाते हैं।

(१८२)

तओ से दंडं समारभई, तसेसु थावरेसु य ।
अट्ठाए य अणट्ठाए, भूयगामं विहिंसई ॥५॥

(१८३)

हिंसे बाले मुसावाई, माइल्ले पिसुणे सढे ।
भुंजमाणे सुरं मंसं, सेयमेयं ति मन्नई ॥६॥

(१८४)

कायसा वयसा मत्ते, वित्ते गिद्धे य इत्थिसु ।
दुहओ मलं संचिणइ, सिसुनागु व्व मट्टियं ॥७॥

(१८५)

तओ पुट्ठो आयंकेणं, गिलाणो परितप्पइ ।
पभीओ परलोगस्स, कम्माणुप्पेही अप्पणो ॥८॥

[उत्तरा० अ० ५ गा० ९-११]

(१८६)

जे केइ बाला इह जीवियट्ठी,
पावाइं कम्माइं करेन्ति रुद्दा ।
ते घोररूवे तमसिन्धयारे,
तिव्वाभितावे नरगे पडन्ति ॥९॥

[सूत्र० श्रु० १ अ० ५ उ० १ गा० ३]

(१८२)

मूर्ख मनुष्य विषयासक्त होते ही त्रस तथा स्थावर जीवों को सताना शुरू कर देता है, और अन्त तक मतलब बेमतलब प्राणि-समूह की हिंसा करता रहता है।

(१८३)

मूर्ख मनुष्य हिंसक, असत्य-भाषी, मायावी, चुगलखोर और धूर्त होता है। वह मांस-मद्य के खाने-पीने में ही अपना श्रेय समझता है।

(१८४)

जो मनुष्य शरीर तथा वचन के बल पर मदान्ध है, धन तथा स्त्री आदि में आसक्त है, वह राग और द्वेष दोनों द्वारा वैसे ही कर्म का संचय करता है, जैसे अलसिया मिट्टी का।

(१८५)

पाप-कर्मों के फलस्वरूप जब मनुष्य अन्तिम समय में असाध्य रोगों से पीड़ित होता है, तब वह खिन्नचित्त होकर अन्दर-ही-अन्दर पछताता है और अपने पूर्वकृत पाप-कर्मों को याद कर-कर के पर-लोक की विभीषिका से कांप उठता है।

(१८६)

जो मूर्ख मनुष्य अपने तुच्छ जीवन के लिये निर्दय होकर पाप-कर्म करते हैं, वे महाभयंकर प्रगाढ़ अन्धकाराच्छन्न एवं तीव्र तापवाले तमिस्र नरक में जाकर पड़ते हैं।

(१८७)

जया य चयइ धम्मं, अणज्जो भोगकारणा ।
से तत्थ मुच्छिए बाले, आयइं नावबुज्झई ॥१०॥

[दश० चूलिका १ गा० १]

(१८८)

निच्चुव्विग्गो जहा तेणो, अत्ताकम्मेहिं दुम्मई ।
तारिसो मरणंऽते वि, नाऽऽराहेइ संवरं ॥११॥

[दश० अ० ५ उ० २ गा० ३९]

(१८९)

जे केइ पव्वइए, निद्दासीले पगामसो ।
भोच्चा पिच्चा सुहं सुवइ, पावसमणि त्ति वुच्चइ॥१२॥

[उत्तरा० अ० १७ गा० ३]

(१९०)

वेराइं कुव्वइ वेरी, तओ वेरेहिं रज्जइ ।
पावोवगा य आरंभा, दुक्खफासा य अन्तसो ॥१३॥

[सूत्र० श्रु० १ अ० ८ गा० ७]

(१९१)

मासे मासे तु जो बाले, कुसग्गेणं तु भुंजए ।
न सो सुयक्खायधम्मस्स, कलं अग्घइ सोलसिं ॥१४

[उत्तरा० अ० ९ गा० ४४]

(१८७)

जब अनार्य मनुष्य काम-भोगों के लिये धर्म को छोड़ता है तब भोग-विलास में मूर्च्छित रहनेवाला वह मूर्ख अपने भयंकर भविष्य को नहीं जानता।

(१८८)

जिस तरह हमेशा भयभ्रान्त रहने वाला चोर अपने ही दुष्कर्मों के कारण दुःख उठाता है, उसी तरह मूर्ख मनुष्य अपने दुराचरणों के कारण दुःख पाता है और अन्तकाल में भी संवर धर्म की आराधना नहीं कर सकता।

(१८९)

जो भिक्षु प्रव्रज्या लेकर भी अत्यन्त निद्राशील हो जाता है, खा-पीकर मजे से सो जाया करता है, वह 'पाप श्रमण' कहलाता है।

(१९०)

वैर रखने वाला मनुष्य हमेशा वैर ही किया करता है, वह वैर में ही आनन्द पाता है। हिंसा-कर्म पाप को उत्पन्न करनेवाले हैं, अन्त में दुख पहुँचाने वाले हैं।

(१९१)

यदि अज्ञानी मनुष्य महीने-महीने भर का घोर तप करे और पारणा के दिन केवल कुशा की नोक से भोजन करे, तो भी वह सत्पुरुषों के बताये धर्म का आचरण करने वाले मनुष्य के सोलहवें हिस्से को भी नहीं पहुँच सकता।

(१६२)

इह जीवियं अनियमित्ता, पब्भट्ठा समाहि-जोगेहिं ।
ते कामभोगरसगिद्धा, उववज्जन्ति आसुरे काये ॥१५॥

[उत्तरा० अ० ८ गा० १४]

(१६३)

जावन्तऽविज्जापुरिसा, सव्वे ते दुक्खसंभवा ।
लुप्पन्ति बहुसो मूढा, संसारम्मि अणन्तए ॥१६॥

[उत्तरा० अ० ६ गा० १]

(१६४)

बालाणं अकामं तु मरणं असइं भवे ।
पंडियाणं सकामं तु, उक्कोसेण सइं भवे ॥१७॥

[उत्तरा० अ० ५ गा० ३]

(१६५)

बालस्स पस्स बालत्तं, अहम्मं पडिवज्जिया ।
चिच्चा धम्मं अहम्मिट्ठे, नरए उववज्जइ ॥१८॥

[उत्तरा० अ० ७ गा० २८]

(१६६)

धीरस्स पस्स धीरत्तं सव्वधम्माणुवत्तिणो ।
चिच्चा अधम्मं धम्मिट्ठे, देवेसु उववज्जइ ॥१६॥

(१६२)

जो मनुष्य अपने जीवन को अनियंत्रित (उच्छृंखल) रखने के कारण समाधि-योग से भ्रष्ट हो जाते हैं वे काम-भोगों में आसक्त होकर अन्त में असुरयोनि में उत्पन्न होते हैं।

(१६३)

संसार के सब अविद्वान् (मूर्ख) पुरुष दुःख भोगने वाले हैं। मूढ प्राणी अनंत संसार में बार बार लुप्त होते रहते हैं—जन्मते और मरते रहते हैं।

(१६४)

मूर्ख जीवों का संसार में बार बार अकाम-मरण हुआ करता है; परन्तु पंडित पुरुषों का सकाम मरण एक बार ही होता है—उनका पुनर्जन्म नहीं होता।

(१६५)

मूर्ख मनुष्य की मूर्खता तो देखो, जो धर्म छोड़कर, अधर्म को स्वीकार कर अधार्मिक हो जाता है, और अन्त में नरक-गति को प्राप्त होता है।

(१६६)

सत्य-धर्म के अनुगामी वीर पुरुष की वीरता देखो, जो अधर्म का परित्याग कर धार्मिक हो जाता है, और अन्त में देव-लोक में उत्पन्न होता है।

(१६७)

तुलियाण बालभावं, अबालं चेव पंडिए ।
चइऊण बालभावं, अबालं सेवई मुणी ॥२०॥

[उत्तरा० अ० गा० १६-३०]

(१६७)

विद्वान् मुनि को बाल-भाव और अबाल-भाव का तुलनात्मक विचार कर बाल-भाव छोड़ देना चाहिये और अबाल-भाव ही स्वीकार करना चाहिये।

पंडिय-सुत्तं

(१९८)

समिक्ख पंडिए तम्हा, पासजाइपहे बहू ।
अप्पणा सच्चमेसेज्जा, मेत्तिं भूएसु कप्पए ॥१॥

[उत्तरा० अ० ६ गा० २]

(१९९)

जे य कंते पिए भोए, लद्धे वि पिट्ठीकुव्वई ।
साहीणे चयइ भोए, से हु चाइ त्ति वुच्चई ॥२॥

[दश० अ० २ गा० ३]

(२००)

वत्थगन्धमलंकारं, इत्थिओ सयणाणि य ।
अच्छन्दा जे न भुंजन्ति, न से चाइ त्ति वुच्चई ॥३॥

[दश० अ० २ गा० २]

(२०१)

डहरे य पाणे वुड्ढे य पाणे,
ते आत्तओ पासइ सव्वलोए ।
उव्वेहई लोगमिणं महन्तं,
बुद्धो पमत्तेसु परिव्वएज्जा ॥४॥

[सूत्र० श्रु० १ अ० १२ गा० १८]

पण्डित-सूत्र

(१६८)

पण्डित पुरुष को संसार भ्रमण के कारणरूप दुष्कर्म-पाशों का भली भांति विचार कर अपने आप स्वतन्त्ररूप से सत्य की खोज करना चाहिये, और सब जीवों पर मैत्रीभाव रखना चाहिये।

(१६६)

जो मनुष्य सुन्दर और प्रिय भोगों को पाकर भी पीठ फेर लेता है, सब प्रकार से स्वाधीन भोगों का परित्याग कर देता है, वही सच्चा त्यागी कहलाता है।

(२००)

जो मनुष्य किसी परतन्त्रता के कारण वस्त्र, गन्ध, अलंकार, स्त्री और शयन आदि का उपभोग नहीं कर पाता, वह सच्चा त्यागी नहीं कहलाता।

(२०१)

जो बुद्धिमान मनुष्य मोहनिद्रा में सोते रहने वाले मनुष्यों के बीच रहकर संसार के छोटे-बड़े सभी प्राणियों को अपनी आत्मा के समान देखता है, इस महान् विश्व का निरीक्षण करता है, सर्वदा अप्रमत्त भाव से संयमाचरण में रत रहता है वही मोक्षगति का सच्चा अधिकारी है।

(२०२)

जे ममाइअमइं जहाइ, से जहाइ ममाइअं।
से हु दिट्ठभए मुणी, जस्स नत्थि ममाइअं॥ ५॥

[आचा० १ श्रु० अ० २ उ० ६ सू० ९९]

(२०३)

जहा कुम्मे सअंगाइं, सए देहे समाहरे।
एवं पावाइं मेहावी, अज्झप्पेण समाहरे॥ ६॥

[सूत्र० श्रु० १ अ० ८ गा० १६]

(२०४)

जो सहस्सं सहस्साणं, मासे मासे गवं दए।
तस्स वि संजमो सेयो अदिन्तस्स वि किंचण॥ ७॥

[उत्तरा० अ० ९ गा० ४०]

(२०५)

नाणस्स सव्वस्स पगासणाय,
अन्नाणमोहस्स विवज्जणाए।
रागस्स दोसस्स य संखएणं,
एगन्तसोक्खं समुवेइ मोक्खं॥ ८॥

(२०६)

तस्सेस मग्गो गुरुविद्धसेवा,
विवज्जणा बालजणस्स दूरा।
सज्झायएगन्तनिसेवणा य,
सुत्तत्थसंचिन्तणया धिई य॥ ९॥

(२०२)

जो ममत्व-बुद्धि का परित्याग करता है, वह ममत्व का परित्याग करता है। वास्तव में वही संसार से सच्चा भय खाने वाला मुनि है, जिसे किसी भी प्रकार का ममत्व-भाव नहीं है।

(२०३)

जैसे कछुआ आपत्ति से बचने के लिये अपने अंगों को अपने शरीर में सिकोड़ लेता है, उसी प्रकार पंडितजन भी विषयों की ओर जाती हुई अपनी इन्द्रियाँ आध्यात्मिक ज्ञान से सिकोड़कर रखें।

(२०४)

जो मनुष्य प्रतिमास लाखों गायें दान में देता है, उसकी अपेक्षा कुछ भी न देने वाले का संयमाचरण श्रेष्ठ है।

(२०५)

सब प्रकार के ज्ञान को निर्मल करने से, अज्ञान और मोह के त्यागने से, तथा राग और द्वेष का क्षय करने से एकांत सुखस्वरूप मोक्ष प्राप्त होता है।

(२०६)

सद्गुरु तथा अनुभवी वृद्धों की सेवा करना, मूर्खों के संसर्ग से दूर रहना, एकाग्र चित्त से सत् शास्त्रों का अभ्यास करना और उनके गम्भीर अर्थ का चिन्तन करना, और चित्त में धृतिरूप अटल शान्ति प्राप्त करना, यह निःश्रेयस का मार्ग है।

(२०७)

आहारमिच्छे मियमेसणिज्जं,
सहायमिच्छे निउणत्थबुद्धिं ।
निकेयमिच्छेज्ज विवेगजोग्गं,
समाहिकामे समणे तवस्सी ॥ १० ॥

(२०८)

न वा लभेज्जा निउणं सहायं,
गुणाहियं वा गुणओ समं वा ।
एक्को वि पावाइं विवज्जयन्तो,
विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥ ११ ॥

[उत्तरा० अ० ३२ गा० ४-५]

(२०९)

जाई च बुड्ढिं च इहऽज्ज पास,
भूएहिं सायं पडिलेह जाणे ।
तम्हाऽइविज्जो परमं ति नच्चा,
सम्मत्तदंसी न करेइ पावं ॥ १२ ॥

[आचा० श्रु०१ अ० ३ उ० २ गा० १]

(२१०)

न कम्मुणा कम्म खवेन्ति बाला,
अकम्मुणा कम्म खवेन्ति धीरा ।
मेहाविणो लोभ-भया वईया,
संतोसिणो न पकरेन्ति पावं ॥ १३ ॥

[सूत्र० श्रु० १ अ० १२ गा० १५]

(२०७)

समाधि की इच्छा रखने वाला तपस्वी श्रमण परिमित तथा शुद्ध आहार ग्रहण करे, निपुण-बुद्धि के तत्वज्ञानी साथी की खोज करे, और ध्यान करने योग्य एकान्त स्थान में निवास करे।

(२०८)

यदि अपने से गुणों में अधिक या समान गुणवाला साथी न मिले, तो पापकर्मों का परित्याग कर तथा काम भोगों में सर्वथा अनासक्त रहकर अकेला ही विचरे। परन्तु दुराचारी का कभी भूल कर भी संग न करे।

(२०९)

संसार में जन्म-मरण के महान् दुःखों को देखकर और यह अच्छी तरह जानकर कि—'सब जीव सुख की इच्छा रखनेवाले हैं' अहिंसा को मोक्ष का मार्ग समझकर सम्यक्त्वधारी विद्वान् कभी भी पाप कर्म नहीं करते।

(२१०)

मूर्ख साधक कितना ही प्रयत्न क्यों न करें, किन्तु पाप-कर्मों से पाप-कर्मों को कदापि नष्ट नहीं कर सकते। बुद्धिमान् साधक वे हैं जो पाप-कर्मों के परित्याग से पाप-कर्मों को नष्ट करते हैं। अतएव लोभ और भय से रहित सर्वदा सन्तुष्ट रहने वाले मेधावी पुरुष किसी भी प्रकार का पाप-कर्म नहीं करते।

अप्प-सुत्तं

(२११)

अप्पा नई वेयवरणी, अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नन्दनं वणं॥ १॥
[उत्तरा० अ० २० गा० ३६]

(२१२)

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिअ सुप्पट्ठिओ॥ २॥
[उत्तरा० अ० २० गा० ३७]

(२१३)

अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दन्तो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य॥ ३॥
[उत्तरा० अ० १ गा० १५]

(२१४)

वरं मे अप्पा दन्तो, संजमेण तवेण य।
माऽहं परेहिं दम्मन्तो, बन्धणेहिं वहेहि य॥ ४॥
[उत्तरा० अ० १ गा० १६]

आत्म-सूत्र

(२११)

आत्मा ही नरक की वैतरणी नदी तथा कूट शाल्मली वृक्ष है। आत्मा ही स्वर्ग की कामदुधा धेनु तथा नन्दन-वन है।

(२१२)

आत्मा ही अपने दुःखों और सुखों का कर्ता तथा भोक्ता है। अच्छे मार्ग पर चलने वाला आत्मा मित्र है, और बुरे मार्ग पर चलने वाला आत्मा शत्रु है।

(२१३)

अपने-आपको ही दमन करना चाहिये। वास्तव में यही कठिन है। अपने-आपको दमन करनेवाला इस लोक तथा परलोक में सुखी होता है।

(२१४)

दूसरे लोग मेरा वध बन्धनादि से दमन करें, इसकी अपेक्षा तो मैं संयम और तप के द्वारा अपने-आप ही अपना (आत्मा का) दमन करूँ, यह अच्छा है।

(२१५)

जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे ।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ ॥५॥

[उत्तरा० अ० ९ गा० ३४]

(२१६)

अप्पाणमेव जुज्झाहि किं ते जुज्झेण बज्झओ ? ।
अप्पाणमेव अप्पाणं, जइत्ता सुहमेहए ॥६॥

(२१७)

पंचिन्दियाणि कोहं. माणं मायं तहेव लोहं च ।
दुज्जयं चेव अप्पाणं, सव्वमप्पे जिए जियं ॥७॥

[उत्तरा० अ० ९ गा० ३५-३६]

(२१८)

न तं अरी कंठ-छेत्ता करेइ,
जं से करे अप्पणिया दुरप्पा ।
से नाहिइ मच्चुमुहं तु पत्ते,
पच्छाणुतावेण दयाविहूणो ॥८॥

[उत्तरा० अ० २० गा० ४८]

(२१९)

जस्सेवमप्पा उ हवेज्ज निच्छिओ,
चइज्ज देहं न हु धम्मसासणं ।

(२१५)

जो वीर दुर्जय संग्राम में लाखों योद्धाओं को जीतता है, यदि वह एक अपनी आत्मा को जीत ले, तो यही उसकी सर्वश्रेष्ठ विजय होगी।

(२१६)

अपनी आत्मा के साथ ही युद्ध करना चाहिये, बाहरी स्थूल शत्रुओं के साथ युद्ध करने से क्या लाभ? आत्मा द्वारा आत्मा को जीतने वाला ही वास्तव में पूर्ण सुखी होता है।

(२१७)

पाँच इन्द्रियाँ, क्रोध, मान, माया, लोभ तथा सबसे अधिक दुर्जय अपनी आत्मा को जीतना चाहिये। एक आत्मा के जीत लेने पर सब कुछ जीत लिया जाता है।

(२१८)

सिर काटने वाला शत्रु भी उतना अपकार नहीं करता, जितना दुराचरण में लगी हुई अपनी आत्मा करती है। दयाशून्य दुराचारी को अपने दुराचरणों का पहले ध्यान नहीं आता; परन्तु जब वह मृत्यु के मुख में पहुँचता है, तब अपने सब दुराचरणों को याद कर-कर पछताता है।

(२१९)

जिस साधक की आत्मा इस प्रकार दृढ़निश्चयी हो कि 'मैं शरीर छोड़ सकता हूँ, परन्तु अपना धर्म-शासन छोड़ ही नहीं सकता;

तं तारिसं नो पयालेन्ति इन्दिया,
उवेन्ति वाया व सुदंसणं गिरिं ॥६॥
[दश० चूलिका १ गा० १७]

(२२०)

अप्पा खलु सययं रक्खियव्वो,
सव्विन्दिएहिं सुसमाहिएहिं ।
अरक्खिओ जाइपहं उवेइ,
सुरक्खिओ सव्वदुक्खाण मुच्चइ ॥१०॥
[दश० चूलिका २ गा० १६]

(२२१)

सरीरमाहु नाव त्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ ।
संसारो अण्णवो वुत्तो, जं तरन्ति महेसिणो ॥११॥
[उत्तरा० अ० २३ गा० ७३]

(२२२)

जो पव्वइत्ताण महव्वयाइं,
सम्मं च नो फासयई पमाया ।
अनिग्गहप्पा य रसेसु गिद्धे,
न मूलओ छिन्दइ बन्धणं से ॥१२॥
[उत्तरा० अ० २० गा० ३६]

उसे इन्द्रियाँ कभी विचलित नहीं कर सकतीं, जैसे—भीषण बवंडर सुमेरु पर्वत को।

(२२०)

समस्त इन्द्रियों को खूब अच्छी तरह समाहित करते हुये पापों से अपनी आत्मा की निरंतर रक्षा करते रहना चाहिये। पापों से अरक्षित आत्मा संसार में भटका करती है, और सुरक्षित आत्मा संसार के सब दुःखों से मुक्त हो जाती है।

(२२१)

शरीर को नाव कहा है, जीव को नाविक कहा जाता है, और संसार को समुद्र बतलाया है। इसी संसार-समुद्र को महर्षिजन पार करते हैं।

(२२२)

जो प्रव्रजित होकर प्रमाद के कारण पांच महाव्रतों का अच्छी तरह पालन नहीं करता, अपने-आपको निग्रह में नहीं रखता, काम-भोगों के रस में आसक्त हो जाता है, वह जन्म-मरण के बन्धन को जड़ से नहीं काट सकता।

लोगतत्त-सुत्तं

(२२३)

धम्मो अहम्मो आगासं, कालो पुग्गल जंतवो ।
एस लोगो त्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं ॥१॥

[उत्तरा० अ० २८ गा० ७]

(२२४)

गइलक्खणो धम्मो, अहम्मो ठाणलक्खणो ।
भायणं सव्वदव्वाण, नहं ओगाहलक्खणं ॥२॥

(२२५)

वत्तणालक्खणो कालो, जीवो उवओगलक्खणो ।
नाणेणं दंसणेणं च, सुहेण य दुहेण य ॥३॥

(२२६)

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा ।
वीरियं उवओगो य, एयं जीवस्स लक्खणं ॥४॥

(२२७)

सद्दंऽधयार-उज्जोओ, पहा छायाऽऽतवे इ वा ।
वण्ण-रस गन्ध-फासा, पुग्गलाणं तु लक्खणं ॥५॥

[उत्तरा० अ० २८ गा० ६-१२]

: १६ :

लोकतत्त्व-सूत्र

(२२३)

धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव—ये छह द्रव्य हैं। केवलदर्शन के धर्ता जिन भगवानों ने इन सबको लोक कहा है।

(२२४)

धर्मद्रव्य का लक्षण गति है; अधर्मद्रव्य का लक्षण स्थिति है; सब पदार्थों को अवकाश देना—आकाश का लक्षण है।

(२२५)

काल का लक्षण वर्तना है, और उपयोग जीव का लक्षण है। जीवात्मा ज्ञान से, दर्शन से, सुख से, तथा दुःख से जाना-पहचाना जाता है।

(२२६)

अतएव ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य, तप, वीर्य और उपयोग—ये सब जीव के लक्षण हैं।

(२२७)

शब्द, अन्धकार, उजाला, प्रभा, छाया, आतप (धूप), वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श—ये सब पुद्गल के लक्षण हैं।

(२२८)

जीवाऽजीवा य बन्धो य पुण्णं पावाऽसवो तहा ।
संवरो निज्जरा मोक्खो, सन्तेए तहिया नव ॥६॥

(२२६)

तहियाणं तु भावाणं, सब्भावे उवएसणं ।
भावेणं सद्दहन्तस्स, सम्मत्तं तं वियाहियं ॥७॥
[उत्तरा० अ० २८ गा० १४-१५]

(२३०)

नाणेण जाणइ भावे, दंसणेणं य सद्दहे ।
चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झइ ॥८॥
[उत्तरा० अ० २८ गा० ३५]

(२३१)

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा ।
एयं मग्गमणुप्पत्ता, जीवा गच्छन्ति सुग्गइं ॥९॥
[उत्तरा० अ० २८ गा० ३]

(२३२)

तत्थ पंचविहं नाणं, सुयं आभिनिबोहियं ।
ओहिनाणं तु तइयं, मणनाणं च केवलं ॥ १० ॥
[उत्तरा० अ० २८ गा० ४]

(२३३-२३४)

नाणस्सावरणिज्जं, दंसणावरणं तहा ।
वेयणिज्जं तहा मोहं, आउकम्मं तहेव य ॥ ११ ॥
नामकम्मं च गोत्तं च, अन्तरायं तहेव य ।
एवमेयाइं कम्माइं, अट्ठेव उ समासओ ॥ १२ ॥
[उत्तरा० अ० ३३ गा० २-३]

(२२८)

जीव, अजीव, बन्ध, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष—ये नव सत्य-तत्व हैं।

(२२९)

जीवादिक सत्य पदार्थों के अस्तित्व में सद्गुरु के उपदेश से, अथवा स्वयं ही अपने भाव से श्रद्धान करना, सम्यक्त्व कहा गया है।

(२३०)

मुमुक्षु आत्मा ज्ञान से जीवादिक पदार्थों को जानता है, दर्शन से श्रद्धान करता है, चारित्र्य से भोग-वासनाओं का निग्रह करता है, और तप से कर्ममलरहित होकर पूर्णतया शुद्ध हो जाता है।

(२३१)

ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य और तप—इस चतुष्टय अध्यात्ममार्ग को प्राप्त होकर मुमुक्षु जीव मोक्षरूप सद्गति पाते हैं।

(२३२)

मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवल—इस भाँति ज्ञान पाँच प्रकार का है।

(२३३-२३४)

ज्ञानवरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय—इस प्रकार संक्षेप में ये आठ कर्म बतलाये हैं।

(२३५)

सो तवो दुविहो वुत्तो बाहिरब्भन्तरो तहा ।
बाहिरो छव्विहो वुत्तो, एवमब्भन्तरो तवो ॥१३॥

(२३६)

अणसणमूणोयरिया, भिक्खायरिया रसपरिच्चाओ ।
कायकिलेसो संलीणया य, वज्झो तवो होई ॥१४॥

[उत्तरा० अ० ३० गा० ७-८]

(२३७)

पायच्छित्तं विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्झाओ ।
झाणं च विउस्सग्गो, एसो अब्भिन्तरो तवो ॥१५॥

[उत्तरा० अ० ३० गा० ३०]

(२३८)

किण्हा नीला य काऊ य, तेऊ पम्हा तहेव य ।
सुक्कलेसा य छट्ठा, नामाइं तु जहक्कमं ॥१६॥

[उत्तरा० अ० ३४ गा० ३]

(२३९)

किण्हा नीला काऊ, तिन्नि वि एयाओ अहम्मलेसाओ ।
एयाहि तिहि वि जीवो, दुग्गइं उववज्जइ ॥१७॥

(२४०)

तेऊ पम्हा सुक्का, तिन्नि वि एयाओ धम्मलेसाओ ।
एयाहि तिहि वि जीवो, सुग्गइं उववज्जइ ॥१८॥

[उत्तरा० अ० ३४ गा० ५६-५७]

(२३५)

तप दो प्रकार का बतलाया गया है—बाह्य और अभ्यंतर। बाह्य तप छह प्रकार का कहा है, इसी प्रकार अभ्यन्तर तप भी छह प्रकार का है।

(२३६)

अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचरी, रसपरित्याग, काय-क्लेश और संलेखना—ये बाह्य तप हैं।

(२३७)

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग—ये अभ्यन्तर तप हैं।

(२३८)

कृष्ण, नील, कापोत, तेज, पद्म और शुक्ल—ये लेश्याओं के क्रमश: छह नाम हैं।

(२३९)

कृष्ण, नील, कापोत—ये तीन अधर्म-लेश्याएं हैं। इन तीनों से युक्त जीव दुर्गति में उत्पन्न होता है।

(२४०)

तेज, पद्म और शुक्ल—ये तीन धर्म-लेश्याएं हैं। इन तीनों से युक्त जीव सद्गति में उत्पन्न होता है।

(२४१)

अट्ठ पवयणमायाओ, समिई गुत्ती तहेव य ।
पंचेव य समिईओ, तओ गुत्तीओ आहिया ॥१६॥

(२४२)

इरियाभासेसणादाणे, उच्चारे समिई इय ।
मणगुत्ती वयगुत्ती, कायगुत्ती य अट्ठमा ॥२०॥

[उत्तरा० अ० २४ गा० १-२]

(२४३)

एयाओ पंच समिईओ, चरणस्स य पवत्तणे ।
गुत्ती नियत्तणे वुत्ता, असुभत्थेसु सव्वसो ॥२१॥

(२४४)

एसा पवयणमाया, जे सम्मं आयरे मुणी ।
से खिप्पं सव्वसंसारा, विप्पमुच्चइ पंडिए ॥२२॥

[उत्तरा० अ० २४ गा० २६-२७]

(२४१)

पांच समिति और तीन गुप्ति—इस प्रकार आठ प्रवचन-माताएं कहलाती हैं।

(२४२)

ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेप और उच्चार-ये पाँच समितियाँ हैं। तथा मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति—ये तीन गुप्तियाँ हैं। इस प्रकार दोनों मिलकर आठ प्रवचन-माताएँ हैं।

(२४३)

पाँच समितियाँ चारित्र की दया आदि प्रवृत्तियों में काम आती हैं और तीन गुप्तियां सब प्रकार के अशुभ व्यापारों से निवृत्त होने में सहायक होती हैं।

(२४४)

जो विद्वान् मुनि उक्त आठ प्रवचन-माताओं का अच्छी तरह आचरण करता है, वह शीघ्र ही अखिल संसार से सदा के लिए मुक्त हो जाता है।

: २० :

पुज्ज-सुत्तं

(२४५)

आयारमट्ठा विणयं पउंजे,
सुस्सूसमाणो परिगिज्झ वक्कं ।
जहोवइट्ठं अभिकंखमाणो,
गुरुं तु नासाययई स पुज्जो ॥१॥

(२४६)

अन्नायउंछं चरइ विसुद्धं,
जवणट्ठया समुयाणं च निच्चं ।
अलद्धुयं नो परिदेवएज्जा,
लद्धुं न विकत्थई स पुज्जो ॥२॥

(२४७)

संथारसेज्जासणभत्तपाणे,
अप्पिच्छया अइलाभे वि सन्ते ।
जो एवमप्पाणऽभितोसएज्जा,
संतोसपाहन्नरए स पुज्जो ॥३॥

पूज्य-सूत्र

(२४५)

जो आचार-प्राप्ति के लिये विनय का प्रयोग करता है, जो भक्तिपूर्वक गुरु-वचनों को सुनता है एवं स्वीकृत कर वचनानुसार कार्य पूरा करता है, जो गुरु की कभी अशातना नहीं करता वही पूज्य है।

(२४६)

जो केवल संयम-यात्रा के निर्वाह के लिये अपरिचितभाव से दोष-रहित भिक्षावृत्ति करता है, जो आहार आदि न मिलने पर भी खिन्न नहीं होता और मिल जाने पर प्रसन्न नहीं होता वही पूज्य है।

(२४७)

जो संस्तारक, शय्या, आसन और भोजन-पान आदि का अधिक लाभ होने पर भी अपनी आवश्यकता के अनुसार थोड़ा ग्रहण करता है, सन्तोष की प्रधानता में रत होकर अपने-आपको सदा संतुष्ट बनाये रखता है, वही पूज्य है।

(२४८)

सक्का सहेउं आसाइ कंटया,
अओमया उच्छहया नरेण ।
अणासए जो उ सहेज्ज कंटए,
वईमए कण्णसरे स पुज्जो ॥४॥

(२४९)

समावयन्ता वयणाभिघाया,
कण्णं गया दुम्मणियं जणन्ति ।
धम्मो त्ति किच्चा परमग्गसूरे,
जिइन्दिए जो सहइ स पुज्जो ॥५॥

(२५०)

अवण्णवायं च परंमुहस्स,
पच्चक्खओ पडिणीयं च भासं ।
ओहारिणिं अप्पियकारिणिं च,
भासं न भासेज्ज सया स पुज्जो ॥६॥

(२५१)

अलोलुए अक्कुहए अमाई,
अपिसुणे या वि अदीणवित्ती ।
नो भावए नो वि य भावियप्पा,
अकोउहल्ले य सया स पुज्जो ॥७॥

(२४८)

संसार में लोभी मनुष्य किसी विशेष आशा की पूर्ति के लिये लोह-कंटक भी सहन कर लेते हैं, परन्तु जो बिना किसी आशा-तृष्णा के कानों में तीर के समान चुभने वाले दुर्वचन-रूपी कंटकों को सहन करता है, वही पूज्य है।

(२४९)

विरोधियों की ओर से पड़नेवाली दुर्वचन की चोटें कानों में पहुँचकर बड़ी मर्मान्तिक पीड़ा पैदा करती हैं; परन्तु जो क्षमाशूर जितेन्द्रिय पुरुष उन चोटों को अपना धर्म जानकर समभाव से सहन कर लेता है, वही पूज्य है।

(२५०)

जो परोक्ष में किसी की निन्दा नहीं करता, प्रत्यक्ष में भी कलह-वर्धक अंट-संट बातें नहीं बकता, दूसरों को पीड़ा पहुँचाने वाली एवं निश्चयकारी भाषा नहीं बोलता, वही पूज्य है।

(२५१)

जो रसलोलुप नहीं है, इन्द्रजाली (जादू-टोना करनेवाला) नहीं है, मायावी नहीं है, चुगलखोर नहीं है, दीन नहीं है, दूसरों से अपनी प्रशंसा सुनने की इच्छा नहीं रखता, स्वयं भी अपने मुँह से अपनी प्रशंसा नहीं करता, खेल-तमाशे आदि देखने का भी शौकीन नहीं है, वही पूज्य है।

(२५२)

गुणेहि साहू अगुणेहिऽसाहू,
    गिण्हाहि साहू गुण मुञ्चऽसाहू ।
वियाणिया अप्पगमप्पएणं,
    जो रागदोसेहिं समो स पुज्जो ॥८॥

(२५३)

तहेव डहरं च महल्लगं वा,
    इत्थी पुमं पव्वइयं गिहिं वा ।
नो हीलए नो वि य खिंसएज्जा,
    थंभं च कोहं च चए स पुज्जो ॥९॥

(२५४)

तेसिं गुरूणं गुणसायराणं,
    सोच्चाण मेहावी सुभासियाइं ।
चरे मुणी पंचरए तिगुत्तो,
    चउक्कसायावगए स पुज्जो ॥१०॥

[दश० अ० ६ उ० ३ गा० २-४-५-६-८ ६-
१०-११-१२-१४]

(२५२)

गुणों से साधु होता है और अगुणों से असाधु, अतः हे मुमुक्षु! सद्‌गुणों को ग्रहण कर और दुर्गुणों को छोड़। जो साधक अपनी आत्मा द्वारा अपनी आत्मा के वास्तविक स्वरूप को पहचान कर राग और द्वेष दोनों में समभाव रखता है, वही पूज्य है।

(२५३)

जो बालक, वृद्ध, स्त्री, पुरुष, साधु, और गृहस्थ आदि किसी का भी अपमान तथा तिरस्कार नहीं करता, जो क्रोध और अभिमान का पूर्णरूप से परित्याग करता है, वही पूज्य है।

(२५४)

जो बुद्धिमान् मुनि सद्‌गुण-सिन्धु गुरुजनों के सुभाषितों को सुनकर तदनुसार पाँच महाव्रतों में रत होता है, तीन गुप्तियाँ धारण करता है, और चार कषायों से दूर रहता है, वही पूज्य है।

माहण-सुत्तं

(२५५)

जो न सज्जइ आगन्तुं, पव्वयन्तो न सोयई ।
रमइ अज्जवयणम्मि, तं वयं बूम माहणं ॥१॥

(२५६)

जायरूवं जहामट्ठं, निद्धन्तमल-पावगं ।
राग-दोस-भयाईयं, तं वयं बूम माहणं ॥२॥

(२५७)

तवस्सियं किसं दन्तं, अवचियमंससोणियं ।
सुव्वयं पत्तनिव्वाणं, तं वयं बूम माहणं ॥३॥

(२५८)

तसपाणे वियाणित्ता, संगहेण य थावरे ।
जो न हिंसइ तिविहेणं, तं वयं बूम माहणं ॥४॥

ब्राह्मण-सूत्र

(२५५)

जो आनेवाले स्नेही-जनों में आसक्ति नहीं रखता, जो जाता हुआ शोक नहीं करता, जो आर्य-वचनों में सदा आनन्द पाता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

(२५६)

जो अग्नि में डालकर शुद्ध किये हुए और कसौटी पर कसे हुए सोने के समान निर्मल है, जो राग, द्वेष तथा भय से रहित है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

(२५७)

जो तपस्वी है, जो दुबला-पतला है, जो इंद्रिय-निग्रही है, उग्र तप:साधना के कारण जिसका रक्त और मांस भी सूख गया है, जो शुद्धव्रती है, जिसने निर्वाण (आत्म-शान्ति) पा लिया है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

(२५८)

जो स्थावर, जंगम सभी प्राणियों को भलीभाँति जानकर, उनकी तीनों ही प्रकार* से कभी हिंसा नहीं करता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

---

* मन, वाणी और शरीर से; अथवा करने, कराने और अनुमोदन से।

(२५९)

कोहा वा जइ हासा, लोहा वा जइ वा भया ।
मुसं न वयई जो उ, तं वयं बूम माहणं ॥५॥

(२६०)

चित्तमन्तमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहुं ।
न गिण्हाइ अदत्तं जे, तं वयं बूम माहणं ॥६॥

(२६१)

दिव्व-माणुस-तेरिच्छं, जो न सेवइ मेहुणं ।
मणसा काय-वक्केणं, तं वयं बूम माहणं ॥७॥

(२६२)

जहा पोम्मं जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा ।
एवं अलित्तं कामेहिं, तं वयं बूम माहणं ॥८॥

(२६३)

अलोलुयं मुहाजीविं, अणगारं अकिंचणं ।
असंसत्तं गिहत्थेसु, तं वयं बूम माहणं ॥९॥

(२५९)

जो क्रोध से, हास्य से, लोभ अथवा भय से—किसी भी मलिन संकल्प से असत्य नहीं बोलता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

(२६०)

जो सचित्त या अचित्त कोई भी पदार्थ—भले ही वह थोड़ा हो या अधिक,—मालिक के सहर्ष दिये बिना चोरी से नहीं लेता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

(२६१)

जो देवता, मनुष्य तथा तिर्यंच सम्बन्धी सभी प्रकार के मैथुन का मन, वाणी और शरीर से कभी सेवन नहीं करता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

(२६२)

जिस प्रकार कमल जल में उत्पन्न होकर भी जल से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार जो संसार में रहकर भी काम-भोगों से सर्वथा अलिप्त रहता है, उसे [illegible]।

(२६३)

जो अलोलुप है, जो अनासक्त-जीवी है, जो अनगार (बिना घरबार का) है, जो अकिंचन है, जो गृहस्थों से अलिप्त है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

(२६४)

जहित्ता पुव्व-संजोगं, नाइसंगे य बन्धवे ।
जो न सज्जइ भोगेसु, तं वयं बूम माहणं ॥१०॥

(२६५)

न वि मुंडिएण समणो, न ओंकारेण बंभणो ।
न मुणी रण्णवासेणं, कुसचीरेण ण तावसो ॥११॥

(२६६)

समयाए समणो होइ, बंभचेरेण बंभणो ।
नाणेण मुणी होइ, तवेण होइ तावसो ॥१२॥

(२६७)

कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ ।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥१३॥

(२६८)

एवं गुणसमाउत्ता, जे भवन्ति दिउत्तमा ।
ते समत्था समुद्धत्तुं, परमप्पाणमेव य ॥१४॥

[उत्तरा० अ० २५ गा० २० से २६,३१-३२-३३-३५]

(२६४)

जो स्त्री-पुत्र आदि का स्नेह पैदा करनेवाले पूर्व सम्बन्धों को, जाति-बिरादरी के मेल-जोल को तथा बन्धु-जनों को एक बार त्याग देने पर उनमें किसी प्रकार की आसक्ति नहीं रखता, पुनः काम-भोगों में नहीं फँसता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

(२६५)

सिर मुँडा लेने मात्र से कोई श्रमण नहीं होता, 'ओम्' का जाप कर लेने मात्र से कोई ब्राह्मण नहीं होता, निर्जन वन में रहने मात्र से कोई मुनि नहीं होता, और न कुशा के बने वस्त्र पहन लेने मात्र से कोई तपस्वी ही हो सकता है।

(२६६)

समता से श्रमण होता है; ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण होता है; ज्ञान से मुनि होता है; और तप से तपस्वी बना जाता है।

(२६७)

मनुष्य कर्म से ही ब्राह्मण होता है, कर्म से ही क्षत्रिय होता है, कर्म से ही वैश्य होता है और शूद्र भी अपने किए गए कर्मों से ही होता है। (अर्थात् वर्ण-भेद जन्म से नहीं होता। जो जैसा अच्छा या बुरा कार्य करता है, वह वैसा ही ऊँच या नीच हो जाता है।)

(२६८)

इस भांति पवित्र गुणों से युक्त जो द्विजोत्तम [श्रेष्ठ ब्राह्मण] हैं, वास्तव में वे ही अपना तथा दूसरों का उद्धार कर सकने में समर्थ हैं।

: २२ :

भिक्खु-सुत्तं

(२६६)

रोइअ नायपुत्त-वयणे,
अत्तसमे मन्नेज्ज छ प्पि काए ।
पंच य फासे महव्वयाइं,
पंचासवसंवरे जे स भिक्खू ॥१॥

(२७०)

चत्तारि वमे सया कसाए,
धुवजोगी य हविज्ज बुद्धवयणे ।
अहणे निज्जायरूव-रयए,
गिहिजोगं परिवज्जए जे स भिक्खू ॥२॥

(२७१)

सम्मदिट्ठी सया अमूढे,
अत्थि हु नाणे तव-संजमे य ।
तवसा धुणइ पुराण पावगं,
मण-वय-कायसुसंवुडे जे स भिक्खू ॥३॥

: २२ :

भिक्षु-सूत्र

(२६९)

जो ज्ञातपुत्र—भगवान् महावीर के प्रवचनों पर श्रद्धा रखकर छह काय के जीवों को अपनी आत्मा के समान मानता है, जो अहिंसा आदि पाँच महाव्रतों का पूर्ण रूप से पालन करता है, जो पाँच आस्रवों का संवरण अर्थात् निरोध करता है, वही भिक्षु है ।

(२७०)

जो सदा क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायों का परित्याग करता है, जो ज्ञानी पुरुषों के वचनों का दृढ़विश्वासी रहता है, जो चाँदी, सोना आदि किसी भी प्रकार का परिग्रह नहीं रखता, जो गृहस्थों के साथ कोई भी सांसारिक स्नेह-सम्बन्ध नहीं जोड़ता, वही भिक्षु है ।

(२७१)

जो सम्यग्दर्शी है, जो कर्तव्य-विमूढ़ नहीं है, जो ज्ञान, तप और संयम का दृढ़ श्रद्धालु है, जो मन, वचन और शरीर को पाप-पथ पर जाने से रोक रखता है, जो तप के द्वारा पूर्व-कृत पाप-कर्मों को नष्ट कर देता है, वही भिक्षु है ।

(२७२)

न य वुग्गहियं कहं कहिज्जा,
न य कुप्पे निहुइन्दिए पसन्ते ।
संजमधुवजोगजुत्ते,
उवसंते अविहेडए जे स भिक्खू ॥४॥

(२७३)

जो सहइ हु गामकंटए,
अक्कोस--पहार--तज्जणाओ य ।
भय-भेरव-सद्द--सप्पहासे,
समसुह-दुक्खसहे जे स भिक्खू ॥५॥

(२७४)

अभिभूय काएण परिसहाइं,
समुद्धरे जाइपहाउ अप्पयं ।
विइत्तु जाई--मरणं महब्भयं,
तवे रए सामणिए जे स भिक्खू ॥६॥

(२७५)

हत्थसंजए पायसंजए,
वायसंजए संजइन्दिए ।

(२७२)

जो कलहकारी वचन नहीं कहता, जो क्रोध नहीं करता, जिसकी इन्द्रियाँ अचंचल हैं, जो प्रशान्त है, जो संयम में ध्रुवयोगी (सर्वथा तल्लीन) रहता है, जो संकट आने पर व्याकुल नहीं होता, जो कभी योग्य कर्तव्य का अनादर नहीं करता, वही भिक्षु है।

(२७३)

जो कान में कांटे के समान चुभनेवाले आक्रोश-वचनों को, प्रहारों को, तथा अयोग्य उपालंभों को शान्तिपूर्वक सह लेता है, जो भीषण अट्टहास और प्रचण्ड गर्जना वाले स्थानों में भी निर्भय रहता है, जो सुख-दुःख दोनों को समभावपूर्वक सहन करता है, वही भिक्षु है।

(२७४)

जो शरीर से परीषहों को धैर्य के साथ सहन कर संसार-गर्त से अपना उद्धार कर लेता है, जो जन्म-मरण को महाभयंकर जानकर सदा श्रमणोचित तपश्चरण में रत रहता है, वही भिक्षु है।

(२७५)

जो हाथ, पाँव, वाणी और इन्द्रियों का यथार्थ संयम रखता है, जो सदा अध्यात्म-चिंतन में रत रहता है, जो अपने आपको

अज्झप्परए सुसमाहिअप्पा,
सुत्तत्थं च वियाणइ जे स भिक्खू ॥७॥

(२७६)

उवहिम्मि अमुच्छिए अगिद्धे,
अन्नायउंछं, पुलनिप्पुलाए ।
कयविक्कयसन्निहिओ विरए,
सव्वसंगावगए य जे स भिक्खू ॥८॥

(२७७)

अलोल भिक्खू न रसेसु गिद्धे,
उंछं चरे जीविय नाभिकंखे ।
इड्ढिं च सक्कारण-पूयणं च,
चए ठियप्पा अणिहे जे स भिक्खू ॥९॥

(२७८)

न परं वइज्जासि अयं कुसीले,
जेणं च कुप्पेज्ज न तं वएज्जा ।
जाणिय पत्तेयं पुण्ण--पावं,
अत्ताणं न समुक्कसे जे स भिक्खू ॥१०॥

भली भाँति समाधिस्थ करता है, जो सूत्रार्थ को पूरा जाननेवाला है, वही भिक्षु है ।

(२७६)

जो अपने संयम-साधक उपकरणों तक में भी मूर्च्छा (आसक्ति) नहीं रखता, जो लालची नहीं है, जो अज्ञात परिवारों के यहाँ से भिक्षा माँगता है, जो संयम-पथ में बाधक होनेवाले दोषों से दूर रहता है, जो खरीदने-बेचने और संग्रह करने के गृहस्थोचित धन्धों के फेर में नहीं पड़ता, जो सब प्रकार से निःसंग रहता है, वही भिक्षु है ।

(२७७)

जो मुनि अलोलुप है, जो रसों में अगृद्ध है, जो अज्ञात कुल की भिक्षा करता है, जो जीवन की चिन्ता नहीं करता, जो ऋद्धि, सत्कार और पूजा-प्रतिष्ठा का मोह छोड़ देता है, जो स्थितात्मा तथा निस्पृही है, वही भिक्षु है ।

(२७८)

जो दूसरों को 'यह दुराचारी है' ऐसा नहीं कहता, जो कटु वचन—जिससे सुननेवाला क्षुब्ध हो—नहीं बोलता, 'सब जीव अपने अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार ही सुख-दुःख भोगते हैं।' —ऐसा जानकर जो दूसरों की निन्द्य चेष्टाओं पर लक्ष्य न देकर अपने सुधार की चिंता करता है, जो अपने-आपको उग्र तप और त्याग आदि के गर्व से उद्धत नहीं बनाता, वही भिक्षु है ।

(२७९)

न जाइमत्ते न य रूवमत्ते,
न लाभमत्ते न सुएण मत्ते ।
मयाणि सव्वाणि विवज्जयंतो,
धम्मज्झाणरए जे स भिक्खू ॥११॥

(२८०)

पवेयए अज्जपयं महामुणी,
धम्मे ठिओ ठावयई परं पि ।
निक्खम्म वज्जेज्ज कुसीललिंगं,
न यावि हासंकुहए जे स भिक्खू ॥१२॥

(२८१)

तं देहवासं असुइं असासयं,
सया चए निच्चहियट्ठियप्पा ।
छिंदित्तु जाईमरणस्स बंधणं ।
उवेइ भिक्खू अपुणागमं गइं ॥१३॥

[दश० अ० १० गा० ५-६-७-१०-११,
१४ से २१]

(२७९)

जो जाति का अभिमान नहीं करता; जो रूप का अभिमान नहीं करता; जो लाभ का अभिमान नहीं करता, जो श्रुत (पांडित्य) का अभिमान नहीं करता; जो सभी प्रकार के अभिमानों का परित्याग कर केवल धर्म-ध्यान में ही रत रहता है; वही भिक्षु है।

(२८०)

जो महामुनि आर्यपद (सद्धर्म) का उपदेश करता है; जो स्वयं धर्म में स्थित होकर दूसरों को भी धर्म में स्थित करता है; जो घर-गृहस्थी के प्रपंच से निकल कर सदा के लिये कुशील लिंग (निन्द्यवेश) को छोड़ देता है; जो किसी के साथ हँसी-ठट्ठा नहीं करता; वही भिक्षु है।

(२८१)

इस भाँति अपने को सदैव कल्याण–पथ पर खड़ा रखनेवाला भिक्षु अपवित्र और क्षणभंगुर शरीर में निवास करना हमेशा के लिये छोड़ देता है; जन्म-मरण के बन्धनों को सर्वथा काटकर अपुनरागमगति (मोक्ष) को प्राप्त होता है।

: २३ :

मोक्खमग्ग-सुत्तं

(२८२)

कहं चरे ? कहं चिट्ठे ? कहमासे ? कहं सए ?
कहं भुंजन्तो भासन्तो पावं कम्मं न बन्धइ ? ॥१॥

(२८३)

जयं चरे जयं चिट्ठे जयमासे जयं सए ।
जयं भुंजन्तो भासन्तो पावं कम्मं न बन्धइ ॥२॥

(२८४)

सव्वभूयप्पभूयस्स सम्मं भूयाइं पासओ ।
पिहियासवस्स दन्तस्स पावं कम्मं न बन्धइ ॥३॥

(२८५)

पढमं नाणं तओ दया एवं चिट्ठइ सव्वसंजए ।
अन्नाणी किं काही किंवा नाहिइ छेय-पवागं ? ॥४॥

मोक्षमार्ग-सूत्र

(२८२)

भन्ते ! कैसे चले ? कैसे खड़ा हो ? कैसे बैठे ? कैसे सोये ? कैसे भोजन करे ? कैसे बोले ?—जिससे कि पाप-कर्म का बन्ध न हो।

(२८३)

आयुष्मन् ! विवेक से चले; विवेक से खड़ा हो; विवेक से बैठे; विवेक से सोये; विवेक से भोजन करे; और विवेक से ही बोले, तो पाप-कर्म नहीं बाँध सकता ।

(२८४)

जो सब जीवों को अपने समान समझता है, अपने–पराये, सबको समान दृष्टि से देखता है, जिसने सब आस्रवों का निरोध कर लिया है, जो चंचल इन्द्रियों का दमन कर चुका है, उसे पाप-कर्म का बन्धन नहीं होता ।

(२८५)

पहले ज्ञान है, बाद में दया। इसी क्रम पर समग्र त्यागीवर्ग अपनी संयम-यात्रा के लिये ठहरा हुआ है। भला, अज्ञानी मनुष्य क्या करेगा ? श्रेय तथा पाप को वह कैसे जान सकेगा ?

(२८६)

सोच्चा जाणइ कल्लाणं सोच्चा जाणइ पावगं ।
उभयं पि जाणइ सोच्चा, जं छेयं तं समायरे ॥५॥

(२८७)

जो जीवे वि न जाणइ, अजीवे वि न जाणइ ।
जीवाऽजीवे अयाणंतो कहं सो नाहीइ संजमं ? ॥६॥

(२८८)

जो जीवे वि वियाणाइ, अजीवे वि वियाणइ ।
जीवाऽजीवे वियाणंतो, सो हु नाहीइ संजमं ॥७॥

(२८९)

जया जीवमजीवे य, दो वि एए वियाणइ ।
तया गइं बहुविहं, सव्वजीवाण जाणइ ॥८॥

(२९०)

जया गइं बहुविहं सव्वजीवाण जाणइ ।
तया पुण्णं च पावं च बंधं मोक्खं च जाणइ ॥९॥

(२८६)

सुनकर ही कल्याण का मार्ग जाना जाता है। सुनकर ही पाप का मार्ग जाना जाता है। दोनों ही मार्ग सुनकर जाने जाते हैं। बुद्धिमान् साधक का कर्तव्य है कि पहले श्रवण करे और फिर अपने को जो श्रेय मालूम हो, उसका आचरण करे।

(२८७)

जो न तो जीव (चेतनतत्व) को जानता है, और न अजीव (जड़तत्व) को जानता है, वह जीव-अजीव के स्वरूप को न जाननेवाला साधक, भला किस तरह संयम को जान सकेगा ?

(२८८)

जो जीव को जानता है और अजीव को भी वह जीव और अजीव दोनों को भलीभाँति जानने वाला साधक ही संयम को जान सकेगा।

(२८९)

जब जीव और अजीव दोनों को भलीभाँति जान लेता है, तब वह सब जीवों की नानाविध गति (नरक तिर्यंच आदि) को भी जान लेता है।

(२९०)

जब वह सब जीवों की नानाविध गतियों को जान लेता है, तब पुण्य, पाप, बन्ध और मोक्ष को भी जान लेता है।

(२६१)

जया पुण्णं च पावं च बंधं मोक्खं च जाणइ ।
तया निव्विदए भोए जे दिव्वे जे य माणुसे ॥१०॥

(२६२)

जया निव्विदए भोए जे दिव्वे जे य माणुसे ।
तया चयइ संजोगं सब्भिन्तरं बाहिरं ॥११॥

(२६३)

जया चयइ संजोगं सब्भिन्तरं बाहिरं ।
तया मुण्डे भवित्ताणं पव्वयइ अणगारियं ॥१२॥

(२६४)

जया मुण्डे भवित्ताणं पव्वयइ अणगारियं ।
तया संवरमुक्किट्ठं धम्मं फासे अणुत्तरं ॥१३॥

(२६५)

जया संवरमुक्किट्ठं धम्मं फासे अणुत्तरं ।
तया धुणइ कम्मरयं अबोहिकलुसं कडं ॥१४॥

(२६१)

जब (साधक) पुण्य, पाप, बन्ध और मोक्ष को जान लेता है, तब देवता और मनुष्य संबन्धी काम-भोगों की निर्गुणता जान लेता है—अर्थात् उनसे विरक्त हो जाता है !

(२६२)

जब देवता और मनुष्य संबन्धी समस्त काम-भोगों से (साधक) विरक्त हो जाता है, तब अन्दर और बाहर के सभी सांसारिक सम्बन्धों को छोड़ देता है।

(२६३)

जब अन्दर और बाहर के समस्त सांसारिक सम्बन्धों को छोड़ देता है, तब मुण्डित (दीक्षित) होकर (साधक) पूर्णतया अनगार वृत्ति (मुनिचर्या) को प्राप्त करता है।

(२६४)

जब मुण्डित होकर अनगार वृत्ति को प्राप्त करता है, तब (साधक) उत्कृष्ट संवर एवं अनुत्तर धर्म का स्पर्श करता है

(२६५)

जब (साधक) उत्कृष्ट संवर एवं अनुत्तर धर्म का स्पर्श करता है, तब (अन्तरात्मा पर से) अज्ञानकालिमाजन्य कर्म-मल को झाड़ देता है।

(२९६)

जया धुइण कम्मरयं अबोहिकलुसं कडं ।
तया सव्वत्तगं नाणं दंसणं चाभिगच्छइ ॥१५॥

(२९७)

जया सव्वत्तगं नाणं दंसणं चाभिगच्छइ ।
तया लोगमलोगं च जिणो जाणइ केवली ॥१६॥

(२९८)

जया लोगमलोगं च जिणो जाणइ केवली ।
तया जोगे निरुंभित्ता सेलेसिं पडिवज्जइ ॥१७॥

(२९९)

जया जोगे निरुंभित्ता सेलेसिं पडिवज्जइ ।
तया कम्मं खवित्ताणं सिद्धिं गच्छइ नीरओ ॥१८॥

(३००)

जया कम्मं खवित्ताणं सिद्धिं गच्छइ नीरओ ।
तया लोगमत्थयत्थो सिद्धो हवइ सासओ ॥१९॥

(२९६)

जब (अन्तरात्मा पर से) अज्ञानकालिमाजन्य कर्म-मल को दूर कर देता है, तब सर्वत्रगामी केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर लेता है।

(२९७)

जब सर्वत्रगामी केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर लेता है, तब जिन तथा केवली होकर लोक और अलोक को जान लेता है।

(२९८)

जब केवलज्ञानी जिन लोक-अलोकरूप समस्त संसार को जान लेता है, तब (आयु समाप्ति पर) मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति का निरोध कर शैलेशी (अचल-अकम्प) अवस्था को प्राप्त होता है।

(२९९)

जब मन, वचन और शरीर के योगों का निरोध कर आत्मा शैलेशी अवस्था पाती है—पूर्णरूप से स्पन्दन-रहित हो जाती है, तब सब कर्मों का क्षय कर—सर्वथा मल-रहित होकर सिद्धि (मुक्ति) को प्राप्त होती है।

(३००)

जब आत्मा सब कर्मों का क्षय कर—सर्वथा मलरहित होकर को पा लेती है, तब लोक के—मस्तक पर—ऊपर के अग्र भागपर स्थित होकर सदा काल के लिए सिद्ध हो जाती है।

(३०१)

सुहसायगस्स समणस्स सायाउलगस्स निगामसाइस्स ।
उच्छोलणापहोविस्स दुल्लहा सोग्गई तारिसगस्स ॥२०॥

(३०२)

तवोगुणपहाणस्स उज्जुमईखन्तिसंजमरयस्स ।
परीसहे जिणन्तस्स सुलहा सोग्गई तारिसगस्स ॥२१॥

[दश० अ० ४ गा० ७ से २७]

(३८१)

जो श्रमण भौतिक सुख की इच्छा रखता है, भविष्यकालिक सुख-साधनों के लिए व्याकुल रहता है, जब देखो तब सोता रहता है, सुन्दरता के फेर में पड़कर हाथ, पैर, मुँह आदि धोने में लगा रहता है, उसे सद्गति मिलनी बड़ी दुर्लभ है।

(३८२)

जो उत्कृष्ट तपश्चरण का गुण रखता है, प्रकृति से सरल है, क्षमा और संयम में रत है, शांति के साथ क्षुधा आदि परीषहों को जीतनेवाला है, उसे सद्गति मिलनी बड़ी सुलभ है।

जातिमद-निवारण-सुत्तं

[जैनसंघ में केवल जाति का कोई मूल्य नहीं, गुणों का ही मूल्य प्रधान है, अत एव जातिमद अर्थात 'मैं अमुक उच्च जाति में जन्मा हूँ' या 'अमुक उच्च कुलमें व गोत्र में जन्मा हूँ' ऐसा कहकर जो मनुष्य अपनी जाति का, कुल का व गोत्र का अभिमान करता है और इसी अभिमान के कारण दूसरों का अपमान करता है, और दूसरों को नाचीज समझता है उसको मूर्ख, मूढ, अज्ञानी कह कर खूब फटकारा गया है और जातिमद, कुलमद, गोत्रमद, ज्ञानमद, तपमद तथा धनमद आदि अनेक प्रकार के मदों को सर्वथा त्याग करने को जैन शास्त्रों में बार-बार कहा गया है। इससे यह सुनिश्चित है कि जैनसंघ में या जैनप्रवचन में कोई भी मनुष्य जाति कुल व गोत्र के कारण नीचा-ऊँचा नहीं है अथवा तिरस्कार-पात्र नहीं है और अस्पृश्य भी नहीं है। अतः इस सूत्र का नाम अस्पृश्यता-निवारण सूत्र भी रखें तो भी उचित ही है]

(३०२)

एगमेगे खलु जीवे अईअद्धाए असइं उच्चागोए,

असइं नीयागोए। × × ×

नो हीणे, नो अइरित्ते, इति संखाए के गोयावाई के माणावाई? कंसि वा एगे गिज्झे? तम्हा पंडिए नो हरिसे नो कुज्झे।

भूएहिं जाण पडिलेह सायं समिए एयाणुपस्सी।

[आचारांग सूत्र, द्वि० अध्ययन, उद्देशक नं०, सूत्र १-२-३]

: ८५ :

जातिमद-निवारण सूत्र

(२:३)

यह सुनिश्चित है कि प्रत्येक जीव भूतकाल में यानी अपने पूर्व-जन्मों में अनेक बार ऊँचे गोत्र में जन्मा है और अनेक बार नीच गोत्र में जनमा है।

केवल इसी कारण से वह न हीन है और न उत्तम। इस प्रकार समझ कर ऐसा कौन होगा जो गोत्रवाद का अभिमान रखेगा व मानवाद की बड़ाई करेगा? ऐसी परिस्थिति में किस प्रकार में आसक्ति की जाय? अर्थात् गोत्र या जाति के कारण कोई भी मनुष्य आसक्ति करने योग्य नहीं है, इसी लिये समझदार मनुष्य जाति या गोत्र के कारण किसी पर प्रसन्न नहीं होता और कोप भी नहीं करता।

समझ-बूझ कर, सोच-विचार कर सब प्राणियों के साथ सहानुभूति से वर्तना चाहिए, और ऐसा समझने वाला ही समतायुक्त है।

(३०४)

जे माहणे खत्तियजायए वा,
तहुग्गपुत्ते तह लेच्छई वा ।
जे पव्वइए परदत्तभोई,
गोत्ते ण जे थब्भति माणबद्धे ॥

[सूत्रकृ० १, अ० १३, १०]

(३०५)

जे आवि अप्पं वसुमं ति मत्ता,
संखायवायं अपरिक्ख कुज्जा ।
तवेण वाऽहं सहिउ त्ति मत्ता,
अण्णं जणं पस्सति बिंबभूयं ॥

[सूत्रकृ० १, अ० १३, ८]

(३०६)

न तस्स जाई व कुलं व ताणं,
णण्णत्थ विज्जाचरणं सुचिण्णं ।
णिक्खम्म से सेवइऽगारिकम्मं,
ण से पारए होइ विमोयणाए ॥

(३०४)

जो ब्राह्मण है, क्षत्रियपुत्र है, तथा उग्रवंश की संतान है तथा लिच्छवी वंश की प्रजा है ऐसा जो भिक्षा से आजीवन रहने वाला भिक्षु है वह अभिमान में बंधकर अपने गोत्र का गर्व नहीं करता।

(३०५)

जो अपने को घमंड से संयमयुक्त मानकर और अपनी बराबर परख न करके घमंड से अपने को ज्ञानी मान कर और मैं कठोर तप कर रहा हूं ऐसा घमंड करके दूसरे मनुष्य को केवल बाबा (सांचा) के समान समझता है अर्थात् तृणपुरुष के समान निकम्मा समझता है वह दुश्शील है, मूढ़ है, मूर्ख है और बाल है।

(३०६)

वैसे घमंडी की रक्षा उसकी कल्पित जाति से या कुल से नहीं हो सकती, केवल सत्का ज्ञान व सदाचरण ही रक्षा कर सकता है। ऐसा न समझकर जो त्यागी साधु होकर भी घमंड में चूर रहता है वह साधु नहीं है, गृहस्थ है—संसार में लिपटा हुआ है और ऐसा घमंडी मुक्ति के मार्ग का पारगामी नहीं हो सकता।

(३०७)

णिक्किंचणे भिक्खू सुलूहजीवी,
जे गारवं होइ सलोगगामी ।
आजीवमेयं तु अबुज्झमाणे,
पुणो पुणो विप्परियासुवेति ॥

[सूत्रकृ० १, १३, गा० ११, १२]

(३०८)

पन्नामयं चेव तवोमयं च,
णिन्नामए गोयमयं च भिक्खू ।
आजीविगं चेव चउत्थमाहु,
से पंडिए उत्तमपोग्गले से ॥

(३०९)

एयाइं मयाइं विगिंच धीरा !
ण ताणि सेवंति सुधीरधम्मा ।
ते सव्वगोत्तावगया महेसी,
उच्चं अगोत्तं च गतिं वयंति ॥

[सूत्रकृ० १, १३ गा० १५, १६]

(३०७)

भिक्षु अकिंचन है, अपरिग्रही है और रूखा-सूखा जो पाता है उससे ही अपनी जीवनयात्रा निभाता है। ऐसा भिक्षु होकर जो अपनी आजीविका के लिये अपने उत्तम कुल, जाति व गोत्र का उपयोग करता है अर्थात् 'मैं तो अमुक उत्तम कुल का था, अमुक उत्तम घराने का था, अमुक ऊँच गोत्र का था व अमुक विशिष्ट वंश का था' इस प्रकार अपनी बड़ाई करके जीवन-यात्रा चलाता है वह तत्त्व को न समझता हुआ बारंबार विपर्यास को पाता है।

(३०८)

जो भिक्षु-मानव-प्रज्ञा के मद को, तप के मद को, गोत्र के मद को तथा चौथे धन के मद को नमाता है अर्थात् छोड़ता है वह पंडित है, वह उत्तम आत्मा है।

(३०९)

हे धीर पुरुष ! इन मदों को काट दे-विशेषरूप से काट दे, सुधीर धर्मवाले मानव उन मदों का सेवन नहीं करते। ऐसे मदों को जड़ से काटने वाले महर्षिजन सब गोत्रों से दूर होकर उस स्थान को पाते हैं जहाँ न जाति है, न गोत्र है और न वंश है। अर्थात् महर्षिजन ऐसी उत्तम गति पाते हैं।

खामणासुत्तं

(३१०)

सव्वस्स जीवरासिस्स भावओ धम्मनिहिअनिअचित्तो ।
सव्वे खमावइत्ता खमामि सव्वस्स अहयं पि ॥१॥

(३११)

सव्वस्स समणसंघस्स भगवओ अंजलिं करिअ सीसे ।
सव्वे खमावइत्ता खमामि सव्वस्स अहयं पि ॥२॥

(३१२)

आयरिए उवज्झाए सीसे साहम्मिए कुल-गणे अ ।
जे मे केइ कसाया सव्वे तिविहेण खामेमि ॥३॥

[पंचप्रति० आयरिअ० सू० ३-२-१]

(३१३)

खामेमि सव्वे जीवे सव्वे जीवा खमंतु मे ।
मित्ती मे सव्वभूएसु वेरं मज्झं न केणइ ॥४॥

[पंचप्रति० वंदित्तु सू० गा० ४९]

(३१४)

जं जं मणेण बद्धं जं जं वायाए भासियं पावं ।
जं जं काएण कयं मिच्छा मि दुक्कडं तस्स ॥५॥

[पंचप्रति० संथारासू० अंतिम गाथा]

क्षमापन-सूत्र

(३१०)

धर्म में स्थिर बुद्धि होकर मैं सद्भावपूर्वक सब जीवों के पास अपने अपराधों की क्षमा माँगता हूँ और उनके सब अपराधों को मैं भी सद्भावपूर्वक क्षमा करता हूँ।

(३११)

मैं नतमस्तक होकर भगवन् श्रमणसंघ के पास अपने अपराधों की क्षमा माँगता हूँ और उनको भी मैं क्षमा करता हूँ।

(३१२)

आचार्य, उपाध्याय, शिष्यगण और साधर्मी बन्धुओं तथा कुल और गण के प्रति मैंने जो क्रोधादियुक्त व्यवहार किया हो उसके लिये मन, वचन और काय से क्षमा माँगता हूँ।

(३१३)

मैं समस्त जीवों से क्षमा माँगता हूँ और सब जीव मुझे भी क्षमा-दान दें। सर्व जीवों के साथ मेरी मैत्रीवृत्ति है; किसी के भी साथ मेरा वैर नहीं है।

(३१४)

मैंने जो जो पाप मन में—संकल्पित—किये हैं, वाणी से बोले हैं और शरीर से किये हैं, वे मेरे सब पाप मिथ्या हो जावें।

पारिभाषिक शब्दोंका अर्थ

अकाम—अविवेक—अज्ञान-पूर्वक दुःखसुख आदि सहन करनेकी प्रवृत्ति या इच्छा न होने पर भी परवशतः सहन करनेकी प्रवृत्ति।

अगृद्ध—अलोलुप।

अचित्त—सचित्तसे उलटा—निर्जीव।

अनगार—अन+अगार, अगार=घर, जिसका अमुक एक घर नहीं है अर्थात् निरंतर सविधि भ्रमण-शील साधक, साधु। साधु, संन्यासी, भिक्षु, श्रमण ये सब 'अनगार'के समनार्थ है।

अनुत्तर—उत्तमोत्तम।

अवधि—रूपादियुक्त परोक्ष या अपरोक्ष पदार्थको मर्यादित रीतिसे जान सकनेवाला विविध प्रकारका ज्ञान।

आदाननिक्षेप—किसीको किसी भी प्रकारका क्लेश न हो इस तरहका संकल्प धारण कर कोई भी पदार्थको धरना या उठाना।

आस्रव—आसक्ति युक्त अच्छी या बुरी प्रवृत्ति।

आहार—अशन, पान, खादिम और स्वादिम, यह चार

प्रकारका भोजन, अशन—कोई भी खाद्य पदार्थ भोजन, पान—कोई भी पेय पदार्थका पीना-शरबत व दूध आदि पीनेकी चीजोंको पीना, खादिम—फल, मे आदि, स्वादिम—मुखवास, लवंग, सुपारी आदि।

इंगित -शारीरिक संकेत—नेत्र, हाथ, आदिके इशारे।

ईर्या- गमन—आगमन आदि क्रिया, ईर्या-समिति—किसी किसी भी प्रकारका क्लेश न हो ऐसे संकल्पसे सावधा पूर्वक चलना-फिरना आदि सब क्रियाओंका करना।

उच्चार-समिति— शौचक्रिया या लघुशंका अर्थात् किसी प्रकारका शारीरिक मल, मलका मानी उच्चार, मलको ऐ स्थानमें छोड़ना जहाँ किसीको लेश भी कष्ट न हो औ जहाँ कोई भी आता-जाता न हो और देख भी न सके इसका नाम उच्चार-समिति है।

उब्भेइमलोण—उद्भेदिम-लवण—समुद्रके पानीसे बना हुआ सहज नमक।

ऊनोदरी—भूखसे कुछ कम खाना—उदरको ऊन रखना—पूरा न भरना।

एषणा—निर्दोष वस्त्र, पात्र और खानपानकी शोध करना, निर्दोषका मानी हिंसा, असत्य आदि दोषोंसे रहित।

एषणीय—शोधनीय-खोज करने लायक—जिनकी उत्पत्ति दूषित है या नहीं इस प्रकार गवेषणाके योग्य।

औपपातिक—उपपात अर्थात् स्वर्गमें या नरकमें जन्म होना। औपपातिक का अर्थ हुआ स्वर्गीय प्राणी या नारकी प्राणी।

कषाय—आत्माके शुद्ध स्वरूपको कष—नाश—करनेवाला, क्रोध, मान माया और लोभ ये चार महादोष।

किंपाकफल—जो फल देखनेमें और स्वादमें सुन्दर होता है पर खानेसे प्राणका नाश करता है।

केवली—केवलज्ञान वाला—सतत शुद्ध आत्म-निष्ठ।

गुप्ति—गोपन करना-संरक्षण करना; मन, वचन और शरीरको दुष्ट कार्योंसे बचा लेना।

तिर्यञ्च—देव, नरक और मनुष्यको छोड़कर शेष जीवोंका नाम 'तिर्यञ्च' है।

त्रस—धूपसे त्रास पाकर छाँहका और शीतसे त्रास पाकर धूपका आश्रय लेने वाला प्राणी—त्रस।

दर्शनावरणीय—दर्शन-शक्तिके आवरणरूप कर्म।

नायपुत्त—भगवान महावीरके वंशका नाम 'नाय'-ज्ञात-है

अतः नायपुत्त—ज्ञातपुत्र—भगवान महावीरका खास नाम है।

निकाय—समूह, जीवनिकाय—जीवोंका समूह।

निर्ग्रन्थ—गाँठ देकर रखने लायक कोई चीज़ जिनके पास नहीं है—अपरिग्रही साधु।

निर्जरा—कर्मोंको नाश करनेकी प्रवृत्ति—अनासक्त चित्तसे प्रवृत्ति करनेसे आत्माके सब कर्म नाश हो जाते हैं।

परीषह—जब साधक साधना करता है तब जो जो विघ्न आते हैं उनके लिए 'परीषह' शब्द प्रयुक्त होता है। साधकको उन सब विघ्नोंको सहन करना चाहिए इसलिए उनका नाम 'परीषह' हुआ।

पुद्गल—रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्दवाले जड़ पदार्थ या या जड़ पदार्थके विविध रूप।

प्रमाद—विषय कषाय मद्य अतिनिद्रा और विकथा आदिका प्रसंग—पांच इन्द्रियोंके शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श ये पांच विषय, क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय, मद्य—मद्य और ऐसी ही अन्य मादक चीजें, अतिनिद्रा—घोर निद्रा, विकथा—संयमको घात करने

वाली विविध प्रकारकी कुत्सित कथाएँ ।

मति — इंद्रिय-जन्य ज्ञान ।

मनःपर्याय — दूसरोंके मनके भावोंको ठीक पहचाननेवाला ज्ञान।

महाव्रत—अहिंसाका पालन, सत्यका भाषण, अचौर्यवृत्ति, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच महाव्रत हैं ।

मोहनीय—मोहको उत्पन्न करनेवाले संस्काररूप कर्म—मोहनीय कर्मके ही प्राबल्यसे आत्मा अपना स्वरूप नहीं पहचानता ।

रजोहरण—रजको हरनेवाला साधन—जो आजकल पतली ऊनकी डोरियोंसे बनाया जाता है—जैन साधु निरंतर पास रखते हैं—जहाँ बैठना होता है वहाँ उससे झाड़-कर बैठते हैं। जिसका दूसरा नाम 'ओघा'—'चरवला' है।

लेश्या—आत्माके परिणाम—अध्यवसाय ।

बिडलोण—गोमूत्रादिक द्वारा पका हुआ नमक ।

वेदनीय—शरीरसे वा इंद्रियोंसे जिनका अनुभव होता है ऐसे सुख या दुःखके साधनरूप कर्म ।

वैयावृत्य—बाल, वृद्ध, रोगी आदि अपने समान धर्मियोंकी सेवा।

शैलेशी—शिलेश-हिमालय, हिमालयके समान अकंप स्थिति।

श्रद्धान—श्रद्धा–स्थितप्रज्ञ वीतराग आप्तपुरुषमें दृढ विश्वास।

श्रमण—स्वपरके कल्याणके लिए श्रम करनेवाला। यह शब्द जैन और बौद्ध साधुओंके लिए व्यवहारमें प्रचलित है।

श्रुत—सुना हुआ ज्ञान–शास्त्रज्ञान।

सकाम—विवेक–ज्ञान–पूर्वक दुःख सुखादि सहन करनेकी प्रवृत्ति या स्वतंत्रविचारसे सहन करनेकी प्रवृत्ति। देखो अकाम।

सचित्त—चित्तयुक्त—प्राणयुक्त–जीवसहित कोई भी पदार्थ।

समिति—शारीरिक, वाचिक और मानसिक सावधानता।

संवर—आश्रवोंको रोकना, अनासक्त आत्माकी प्रवृत्ति—आत्माकी शुद्ध प्रवृत्ति।

संलेखना—मृत्यु (शरीरान्त) तक चलनेवाली वह प्रवृत्ति जिससे कषायोंको दूर करनेके लिए उनका पोषण और निर्वाह करनेवाले तमाम निमित्त कम किए जाते हों।

ज्ञानावरणीय—ज्ञानके आवरणरूप कर्म—ज्ञान, ज्ञानी या ज्ञानके साधनके प्रति द्वेषादि दुर्भाव रखनेसे ज्ञानावरणीय कर्म बंधते हैं।

महावीर-वाणीके पद्योंकी अक्षरानुक्रमणिका

शुद्धिपत्रक

१ मूल गाथामें और हिन्दी अनुवादमें कई जगह टाइप बराबर ऊठे नहीं है तथा संख्याके अंक भी बराबर स्पष्ट छपे नहीं है तथा अनुस्वार, अक्षरके ऊपरकी मात्राएं–दीर्घकी मात्रा, एकारकी मात्रा वगैरे मात्राएं–स्पष्टतया ऊठी नही हैं।

२ व और ब में भी छपनेमें संकरसा हो गया है।

३ कई जगह टाइपके बाजुमें और ऊपरमें कुछ धब्बासा भी छप गया है।

४ अक्षरके ऊपरके अनुस्वार कई जगह यथास्थान नहीं छपे परंतु खिसकर छपे हैं।

५ ० ऐसा शून्य भी स्पष्ट छपा नहीं है।

इस प्रकार मुद्रणकी भारी त्रुटिसे वाचकलोग गभराये नहीं परंतु उस तरफ उपेक्षाभाव रखकर ग्रंथको पढें ऐसी मेरी नम्र सूचना हैं।

अशुद्ध	शुद्ध	
चतुरंगी	चतुरंगीय	(विषयसूची)
जातिमदनिवारण	जातिमदनिवारणमूत्र	,,
अर्हन्तकी	अर्हन्तोंकी	(मंगलसूत्र-शरण)
धम-मूत्र	धर्मसूत्र	पृ० ११
सव्वं दिस्स,	सव्वं, दिस्स	गा० १६
भयवेराओ	भय-वेराओ	,,
सम्यक्ज्ञान	सम्यग्ज्ञान	गा० १७ (अनुवाद)
सबी	सभी	,, (,,)
एवं	एयं	गा० १८
दुक्वरं	दुक्करं	गा० २१
र्मे	मर्म–	गा० २४ (अनुवाद)
वि	पि	गा० ३१
स्रियोंका	स्त्रियोंका	गा० ४१ (अनुवाद)
स्वाद्दिष्ट	स्वादिष्ट	गा० ४१ (,,)
पाणिहाणवं	पणिहाणवं	गा० ५४
श्रृंगार	शृंगार	गा० ५२
श्रृंगारी	शृंगारी	,,
बंभयारि	बंभयारिं	गा० ५६
आशक्ति का	आसक्ति का	गा० ५८
सर्प्पिं	सर्प्पि	गा० ६०
एयं	एवं	गा० ६७

अशुद्ध	शुद्ध	
अरात्रि—भोजन—	अरात्रिभोजन—	गा० ६४ (शीर्षक—अनुवाद)
लाते !	लाते	गा० ९४ (अनुवाद)
पमत्त	पमत्ते	गा० १०१
पंचिन्दिया	पंचिन्दियया	गा० ११८
विइयं	बिइयं	गा० १२६
स्वादिष्ट	स्वादिष्ठ	गा० १३४ (अनुवाद)
लोहा	लोहो	गा० १४७
परित्याग	परित्याग	गा० १५१ (अनुवाद)
विणिअट्टेज्ज	विणिअट्टेज्ज	गा० १६१
पुणरवि	पुणरावि	गा० १६३
सुवया	सुव्वया	गा० १६४
राजन्,	राजन् !	गा० १७५ (अनुवाद)
पंडितमन्य	पंडितंमन्य	गा० १७७ („)
है	है '	गा० १७९ („)
भयभान्त	भयभ्रान्त	गा० १८८ (अनुवाद)
चिच	चिच्चा	गा० १९६
उच्छंखल	उच्छृंखल	गा० १९२ (अनुवाद)
पडिए	पंडिए	गा० १९८
हू	हु	गा० १९९

अशुद्ध	शुद्ध	
मुत्तत्थ	सुत्तत्थ	गा० २०६
सम	समं	गा० २०८
तत्वज्ञानी	तत्त्वज्ञानी	गा० २०७ (अनुवाद)
वेयवणी	वेयरणी	गा० २११
कामदुधा	कामदुघा	गा० २११ (अनुवाद)
अप्पाणमेव	अप्पणामेव	गा० २१६
कोहे	कोहं	गा० २१७
लक्ख्वखणो	लक्खणो	गा० २२४
चरितं	चरित्तं	गा० २२६
जावस्स	जीवस्स	,,
नाण	नाणं	गा० २३१
ज्ञानवरणीय	ज्ञानावरणीय	गा० २३३, २३४ (अनुवाद)
अशातना	आशातना	गा० २४५ (,,)
माहण	माहणं	गा० २५७
जइ हासा	जइ वा हासा	गा० २५९
ववकेणं	वक्केणं	गा० २६१
अकिचन	अकिंचन	गा० २६३ (अनुवाद)
रोइअ नायपुत्त	रोइअनायपुत्त	गा० २६९
पुराण पावगं	पुराणपावगं	गा० २७१
मन्ते	मत्ते	गा० २७९

अशुद्ध	शुद्ध	
छेयपवागं	छेयपावगं	गा० २८५
बंध	बंधं	गा० २९०
तत्व	तत्त्व	गा० २८७ (अनुवाद)
अजीवको भी वह	अजीवको भी जानता है वह	गा० २८८ (अनुवाद)
सब्भिन्तरं बाहिरं	सब्भिन्तरबाहिरं	गा० २९२, २९३
पुण्ण	पुण्णं	गा० २९१
धम्मे	धम्मं	गा० २९४
धुइण	धुणइ	गा० २९६
कम्म	कम्मं	गा० २९९
नीच	नीचं	नं० ३०३
(सांचा)	(चंचा)	गा० ३०५
१७८	१६८ (पृष्ठांक)	
शब्दोंका	शब्दोंके	पृ० १७३

मोह दुक्ख काल घोर धारए क्षति मोहनीय रत विथाणइ श्रमणोचित मोक्षमार्ग होनेमें दुःख जीतने-वाला सुखी वीर मोक्ता सया होता है लोहो रूप जाती है दुःखी स्वाधीन भविष्य लोक वण्णिओ मुणी लोए और परतंत्रता शरीर तपस्वी तत्त्व ऐसे अनेकानेक शब्द अस्पष्ट छपे है अतः सावधान होकर पढनेकी नम्र सूचना है।

प्रथम परिशिष्ट

[संस्कृतानुवादः]

: १ :

मङ्गल-सूत्रम्[1]

नमस्कारः

नमः अर्हद्भ्यः (अर्हताम्)।
नमः सिद्धेभ्यः (सिद्धानाम्)।
नमः आचार्येभ्यः (आचार्याणाम्)।
नमः उपाध्यायेभ्यः (उपाध्यायानाम्)।
नमः लोके सर्वसाधुभ्यः (सर्वसाधूनाम्)।
एष पञ्च नमस्कारः सर्वपापप्रणाशनः।
मङ्गलानां च सर्वेषाम् प्रथमं भवति मङ्गलम्॥

मङ्गलम्

अर्हन्तः मङ्गलम्।
सिद्धाः मङ्गलम्।
साधवः मङ्गलम्।
केवलिप्रज्ञप्तः धर्मः मङ्गलम्।

१ 'सुत्तं' इत्यस्य 'सूक्तम्' अपि।

लोकोत्तमाः

अर्हन्तः लोकोत्तमाः ।
सिद्धाः लोकोत्तमाः ।
साधवः लोकोत्तमाः ।
केवलिप्रज्ञप्तः धर्मः लोकोत्तमः ।

शरणम्

अर्हतः शरणं प्रपद्ये ।
सिद्धान् शरणं प्रपद्ये ।
साधून् शरणं प्रपद्ये ।
केवलिप्रज्ञप्तं धर्मं शरणं प्रपद्ये ।

: २ :

धर्म-सूत्रम्

धर्मः मङ्गलम् उत्कृष्टम् अहिंसा संयमः तपः ।
देवाः अपि तं नमस्यन्ति यस्य धर्मे सदा मनः ॥ १ ॥

अहिंसा सत्यं च अस्तेनकं च,
ततश्च ब्रह्म अपरिग्रहश्च ।
प्रतिपद्य पञ्च महाव्रतानि,
चरेत् धर्मं जिनदेशितं विदुः ॥ २ ॥

प्राणान् च नातिपातयेत् अदत्तम् अपि च नाददेत ।
सादिकं[1] न मृषा ब्रूयात् एष धर्मः वृषीमतः ॥ ३ ॥

जरा-मरणवेगेन व्युह्यमानानां प्राणिनाम् ।
धर्मः द्वीपः प्रतिष्ठा च गतिः शरणम् उत्तमम् ॥ ४ ॥

यथा शाकटिकः यानम् समं हित्वा महापथम् ।
विषमम् मार्गम् अवतीर्णः अक्षे भग्ने शोचति ॥ ५ ॥

एवं धर्मं व्युत्क्रम्य अधर्मं प्रतिपद्य च ।
बालः मृत्युमुखं प्राप्तः अक्षे भग्ने वा शोचति ॥ ६ ॥

या या व्रजति रजनी न सा प्रतिनिवर्तते ।
अधर्मं कुर्वाणस्य अफला यान्ति रात्रयः ॥ ७ ॥

या या व्रजति रजनी न सा प्रतिनिवर्तते ।
धर्मं च कुर्वाणस्य सफलाः यान्ति रात्रयः ॥ ८ ॥

जरा यावत् न पीडयति व्याधिः यावत् न वर्धते ।
यावत् इन्द्रियाणि न जहति तावत् धर्मं समाचरेत् ॥ ९ ॥

मरिष्यसि राजन्! यदा तदा वा,
मनोरमान् कामगुणान् विहाय ।
एकः खलु धर्मः नरदेव! त्राणम्,
न विद्यते अन्यदिहेह किञ्चित् ॥ १० ॥

---

१ [illegible] । २ [illegible] । ३ 'इव' अर्थे ।

: ३ :

अहिंसा-सूत्रम्

तत्रेदं प्रथमं स्थानं महावीरेण देशितम् ।
अहिंसा निपुणा[1] दृष्टा सर्वभूतेषु संयमः ॥ ११ ॥

यावन्तः लोके प्राणाः त्रसाः अथवा स्थावराः ।
तान् जानन् अजानन् वा न हन्यात् नोऽपि घातयेत् ॥ १२ ॥

स्वयम् अतिपातयेत् प्राणान् अथवा अन्यैः घातयेत् ।
घ्नन्तं वा अनुजानाति वैरं वर्धयति आत्मनः ॥ १३ ॥

जगन्निश्रितैः भूतैः त्रसनामभिः स्थावरैश्च ।
नो तेषामारभेत दण्डं मनसा वचसा कायेनश्चैव ॥ १४ ॥

सर्वे जीवा अपि इच्छन्ति जीवितुं न मर्तुम् ।
तस्मात् प्राणिवधं घोरं निर्ग्रन्था वर्जयन्ति णं ॥ १५ ॥

अध्यात्म सर्वतः सर्वं दृष्ट्वा प्राणान् प्रियात्मकान् ।
न हन्यात् प्राणिनः प्राणान् भय-वैरात् उपरतः ॥ १६ ॥

सर्वाभिः अनुयुक्तिभिः मतिमान् प्रतिलेख्य[2] ।
सर्वे अकान्तदुःखाश्च अतः सर्वान् न हिंस्यात् ॥ १७ ॥

---

१ अलंकारसूत्रवद् निपुणः । २ पर्यालोच्य ।

एवं खलु ज्ञानिनः सारं यत् न हिंसति[1] किंचन ।
अहिंसासमयं चैव एतावन्तं विजानीयात् ॥ १८ ॥

संबुध्यमानः तु नरः मतिमान्,
पापात् आत्मानं निवर्तयेत् ।
हिंसाप्रसूतानि दुःखानि मत्वा,
वैरानुबन्धीनि महाभयानि ॥ १९ ॥

समता सर्वभूतेषु शत्रु-मित्रेषु वा जगति ।
प्राणातिपातविरतिः यावज्जीवं दुष्करम् ॥२०॥

: ४ :

सत्य-सूत्रम्

नित्यकालाऽप्रमत्तेन मृषावादविवर्जनम् ।
भाषितव्यं हितं सत्यं नित्याऽऽयुक्तेन दुष्करम् ॥ २१ ॥

आत्मार्थं परार्थं वा क्रोधात् वा यदि वा भयात् ।
हिंसकं न मृषा ब्रूयात् नोऽपि अन्यं वदापयेत् ॥ २२ ॥

मृषावादश्च लोके सर्वसाधुभिर्गर्हितः ।
अविश्वासश्च भूतानाम् तस्मात् मृषा विवर्जयेत् ॥ २३ ॥

१ छान्दसं रूपं 'हिनस्ति' इत्यर्थे ।

न लपेत् पृष्टः सावद्यं न निरर्थं न मर्मगम् ।
आत्मार्थं परार्थं वा उभयस्यान्तरेण वा ॥ २४ ॥

तथैव सावद्यानुमोदनी गिरा ।
अवधारणी या च परोपघातनी ॥
तां क्रोधात् लोभात् भयात् हासात् मानवः ।
न हसमानः अपि गिरं वदेत् ॥ २५ ॥

दृष्टां मिताम् असंदिग्धां प्रतिपूर्णां व्यक्ताम् ।
अजल्पनाम् अनुद्विग्नां भाषां निसृज आत्मवान् ॥ २६ ॥

भाषायाः दोषांश्च गुणांश्च ज्ञात्वा (अथवा) जानीयात्[1]
तस्याश्च दुष्टान् परिवर्जयेत् सदा ।
षट्सु संयतः श्रामण्ये सदा यतः,
वदेत् बुद्धः हितम् आनुलोमिकम् ॥ २७ ॥

स्वयं समेत्य अथवाऽपि श्रुत्वा,
भाषेत धर्मं हितदं प्रजानाम् ।
ये गर्हिताः सनिदानप्रयोगाः,
न तान् सेवन्ते सुधीरधर्माः ॥ २८ ॥

स्ववाक्य-शुद्धिं समुत्प्रेक्ष्य मुनिः,
गिरं च दुष्टां परिवर्जयेत् सदा ।

---

१ कर्मप्रभावेण 'अहं धनपतिर्भवेयम्, राजा देवो वा भवेयम्' इत्यादिका आशंसाप्रधाना [illegible]प्रेरिताः [illegible] ।

मिताम् अदुष्टाम् अनुविच्य भाषते,
सतां मध्ये लभते प्रशंसनम् ॥ २९ ॥

तथैव काणं काणः इति पण्डगं पण्डगः इति वा ।
व्याधितं वाऽपि रोगी इति स्तेनं चौरः इति नो वदेत् ॥ ३० ॥

वितथाम् अपि तथामूर्तिं यां गिरं भाषते नरः ।
तस्मात् सः स्पृष्टः पापेन किं पुनः यः मृषा वदेत्? ॥ ३१ ॥

तथैव परुषा भाषा गुरुभूतोपघातिनी ।
सत्याऽपि सा न वक्तव्या यतः पापस्य आगमः ॥ ३२ ॥

: ५ :

अस्तेनक-सूत्रम्

चित्तवत् अचित्तं वा अल्पं वा यदि वा बहु ।
दन्तशोधनमात्रमपि अवग्रहं तस्य अयाचित्वा ॥३३॥

तत् आत्मना न गृह्णन्ति नोऽपि ग्राहापयेत् परम् ।
अन्यं वा गृह्णानम् अपि नानुजानन्ति संयताः ॥३४॥

ऊर्ध्वम् अधश्च तिर्यग् दिशासु,
त्रसाश्च ये स्थावराः ये च प्राणाः ।
हस्तेभिः[२] पादेभिश्च संयम्य,
अदत्तमन्येषु च नो गृह्णीयात् ॥३५॥

१ सविवेकं चिन्तयित्वा। २ [illegible]। [illegible]

तीव्रं त्रसान् प्राणिनः स्थावरांश्च ।
यो हिंसति आत्मसुखं प्रतीत्य ॥
यः लूषकः भवति अदत्तहारी,
न शिक्षते सेवितव्यस्य किंचित् ॥३६॥

दन्तशोधन-आदेः अदत्तस्य विवर्जनम् ।
अनवद्यैषणीयस्य ग्रहणम् अपि दुष्करम् ॥३७॥

: ६ :

ब्रह्मचर्य-सूत्रम्

विरतिः अब्रह्मचर्यस्य कामभोगरसज्ञेन ।
उग्रं महाव्रतं ब्रह्म धारयितव्यं सुदुष्करम् ॥ ३८ ॥

अब्रह्मचर्यं घोरं प्रमादं दुरधिष्ठितम् ।
नाऽऽचरन्ति मुनयः लोके भेदायतनवर्जिनः ॥ ३९ ॥

मूलमेतद् अधर्मस्य महादोषसमुच्छ्रयम् ।
तस्मात् मैथुनसंसर्गं निर्ग्रन्थाः वर्जयन्ति तम् ॥ ४० ॥

विभूषा स्त्री-संसर्गः प्रणीतं रसभोजनम् ।
नरस्यात्मगवेषिणः विषं तालपुटं यथा ॥ ४१ ॥

---

१ अनुष्ठेयस्य संयमस्य ।

न रूपलावण्यविलासहासं,
न जल्पितम् इङ्गित-प्रेक्षितं वा ।
स्त्रीणां चित्ते निवेशयित्वा,
द्रष्टुं व्यवस्येत् श्रमणः तपस्वी ॥ ४२ ॥

अदर्शनं चैव अप्रार्थनं च,
अचिन्तनं चैव अकीर्तनं च ।
स्त्रीजनस्याऽऽर्यध्यानयोग्यं,
हितं सदा ब्रह्मव्रते रतानाम् ॥ ४३ ॥

मनःप्रह्लादजननीम् कामरागविवर्धनीम् ।
ब्रह्मचर्यरतः भिक्षुः स्त्रीकथां तु विवर्जयेत ॥ ४४ ॥

समं च संस्तवं स्त्रीभिः संकथां च अभिक्षणम ।
ब्रह्मचर्यरतः भिक्षुः नित्यशः परिवर्जयेत् ॥ ४५ ॥

अङ्गप्रत्यङ्गसंस्थानं चारूल्लपित-प्रेक्षितम् ।
ब्रह्मचर्यरतः स्त्रीणां चक्षुर्ग्राह्यं विवर्जयेत् ॥ ४६ ॥

कूजितं रुदितं गीतं हसितं स्तनित-क्रन्दितम् ।
ब्रह्मचर्यरतः स्त्रीणां श्रोत्रग्राह्यं विवर्जयेत् ॥ ४७ ॥

हास्यं क्रीडां रतिं दर्पं सहसाऽवत्रासितानि च ।
ब्रह्मचर्यरतः स्त्रीणां नानुचिन्तयेत् कदाचिदपि ॥ ४८ ॥

१ सहसाऽवत्रासितानि इत्यपि ।

प्रणीतं भक्तपानं तु क्षिप्रं मदविवर्धनम् ।
ब्रह्मचर्यरतः भिक्षुः नित्यशः परिवर्जयेत् ॥ ४९ ॥

धर्मलब्धं मितं काले यात्रार्थं प्रणिधानवान् ।
नातिमात्रं तु भुञ्जीत ब्रह्मचर्यरतः सदा ॥ ५० ॥

यथा दवाग्निः प्रचुरेन्धने वने,
समारुतः नोपशमम् उपैति ।
एवमिन्द्रियाग्निः अपि प्रकामभोजिनः
न ब्रह्मचारिणः हिताय कस्यचित् ॥ ५१ ॥

विभूषां परिवर्जयेत् शरीरपरिमण्डनम् ।
ब्रह्मचर्यरतः भिक्षुः शृङ्गारार्थं न धारयेत् ॥ ५२ ॥

शब्दान् रूपाणि च गन्धान् च रसान् स्पर्शान् तथैव च ।
पञ्चविधान् कामगुणान् नित्यशः परिवर्जयेत् ॥ ५३ ॥

दुर्जयान् कामभोगान् च नित्यशः परिवर्जयेत् ।
शङ्कास्थानानि सर्वाणि वर्जयेत् प्रणिधानवान् ॥ ५४ ॥

कामानुगृद्धिप्रभवं खलु दुःखम्,
सर्वस्य लोकस्य सदेवकस्य ।
यत् कायिकं मानसिकं च किञ्चित्,
तस्यान्तकं गच्छति वीतरागः ॥ ५५ ॥

देवदानवगान्धर्वाः यक्षराक्षसकिन्नराः ।
ब्रह्मचारिणं नमस्यन्ति दुष्करं ये करन्ति तत् ॥ ५६ ॥

एष धर्मः ध्रुवः नित्यः शाश्वतः जिनदेशितः ।
सिद्धाः सिध्यन्ति चानेन सेत्स्यन्ति तथा परे ॥ ५७ ॥

: ७ :

अपरिग्रह-सूत्रम्

न सः परिग्रहः प्रोक्तः ज्ञातपुत्रेण तायिना ।
मूर्छा परिग्रहः प्रोक्तः इति प्रोक्तं महर्षिणा ॥ ५८ ॥

धन–धान्य–प्रेष्यवर्गेषु परिग्रहविवर्जनम् ।
सर्वारम्भपरित्यागः निर्ममत्वं सुदुष्करम् ॥ ५९ ॥

बिडमुद्भेदिमं लवणं तैलं सर्पिश्च फाणितम् ।
न ते सन्निधिमिच्छन्ति ज्ञातपुत्रवचोरताः ॥ ६० ॥

यदपि वस्त्रं च पात्रं वा कम्बलं पादप्रोञ्छनम् ।
तदपि संयमलज्जार्थं धारयन्ति परिधरन्ति च ॥ ६१ ॥

सर्वत्रोपधिना बुद्धाः संरक्षण–परिग्रहे ।
अपि आत्मनोऽपि देहे नाचरन्ति ममायिताम्(ममायिकम्)॥६२॥

लोभस्यैष अनुस्पर्शः मन्ये अन्यतरमपि ।
यः स्यात् सन्निधिकामः गृही प्रव्रजितः न सः ॥ ६३ ॥

: ८ :

अरात्रिभोजन-सूत्रम्

अस्तंगते आदित्ये पुरस्तात् च अनुद्गते ।
आहारआदिकं सर्वं मनसाऽपि न प्रार्थयेत् ॥ ६४ ॥

सन्ति इमे सूक्ष्माः प्राणाः त्रसा अदो वा स्थावराः ।
यानि रात्रौ अपश्यन् कथमेषणीयं चरेत् ? ॥६५॥

उदआर्द्रं बीजसंसक्तं प्राणा निष्पतिता मह्यां ।
दिवा तानि विवर्जयेत् रात्रौ तत्र कथं चरेत् ? ॥६६॥

एवं च दोषं दृष्ट्वा ज्ञातपुत्रेण भाषितम् ।
सर्वाहारं न भुञ्जते निर्ग्रन्था रात्रिभोजनम् ॥६७॥

चतुर्विधेऽपि आहारे रात्रीभोजनवर्जना ।
सन्निधि-संचयश्चैव वर्जितव्यः सुदुष्करम् ॥६८॥

प्राणिवध-मृषावादा-ऽदत्त-मैथुन-परिग्रहात् विरतः ।
रात्रिभोजनविरतः जीवो भवति अनास्रवः ॥६९॥

: ९ :

विनय-सूत्रम्

मूलात् स्कन्धप्रभवः द्रुमस्य
स्कन्धात् पश्चात् समुपयन्ति शाखाः ।

शाखाप्रशाखा विरोहन्ति पत्राणि
ततश्च तस्य पुष्पं फलं रसश्च ॥ ७० ॥

एवं धर्मस्य विनयः मूलं परमः तस्य मोक्षः ।
येन कीर्तिं श्रुतं श्लाघ्यं (शीघ्रं) निश्शेषं चाभिगच्छति ॥७१॥

अथ पञ्चभिः स्थानैः यैः शिक्षा न लभ्यते ।
स्तम्भात् क्रोधात् प्रमादेन रोगेणाऽऽलस्यकेन च ॥७२॥

अथ अष्टभिः स्थानैः शिक्षाशील इति उच्यते ।
अहसनः सदादान्तः न च मर्म उदाहरेत् ॥७३॥

नाशीलः न विशीलः न स्यात् अतिलोलुपः ।
अक्रोधनः सत्यरतः शिक्षाशील इति उच्यते ॥७४॥

आज्ञानिर्देशकरः गुरूणामुपपातकारकः ।
इङ्गिताकारसंप्रज्ञः स विनीत इति उच्यते ॥७५॥

अथ पञ्चदशभिः स्थानैभिः सुविनीत इति उच्यते ।
नीचावृत्तिः अचपलः अमायी अकुतूहलः ॥७६॥

अल्पं चाधिक्षिपति प्रबन्धं च न कुर्वति ।
मित्रीय्यमाणो भजति श्रुतं लब्ध्वा न माद्यति ॥७७॥

न च पापपरिक्षेपी न च मित्रेषु कुप्यति ।
अप्रियस्यापि मित्रस्य रहसि कल्याणं भाषते ॥७८॥

कलहडमरवर्जितः बुद्धः अभिजातिकः ।
ह्रीमान् प्रतिसंलीनः सुविनीत इति उच्यते ॥७९॥

आज्ञाऽनिर्देशकरः गुरूणामनुपपातकारकः ।
प्रत्यनीकः असंबुद्धः अविनीत इति उच्यते ॥८०॥

अभिक्षणं क्रोधी भवति प्रबन्धं च प्रकुर्वति ।
मित्रीय्यमाणः वमति श्रुतं लब्ध्वा मज्जति ॥८१॥

अपि पापपरिक्षेपी अपि मित्रेषु कुप्यति ।
सुप्रियस्यापि मित्रस्य रहसि भाषते पापकम् ॥८२॥

प्रकीर्णवादी द्रोहिलः स्तब्धः लुब्धः अनिग्रहः ॥
असंविभागी अचियत्तः अविनीतः इति उच्यते ॥८३॥

यस्यान्तिके धर्मपदानि शिक्षेत,
तस्यान्तिके वैनयिकं प्रयुञ्जीत ।
सत्कारयेत् शिरसा प्राञ्जलिकः
काय-गिरा भोः ! मनसा च नित्यम् ॥८४॥

स्तम्भात् वा क्रोधात् वा मद-प्रमादात्,
गुरुसकाशे विनयं न शिक्षेत ।
स चैव तु तस्य अभूतिभावः
फलं व कीचस्य वधाय भवति ॥८५॥

---

१ [illegible]। २ [illegible]।

विपत्तिः अविनीतस्य संपत्तिः विनीतस्य च ।
यस्यैतत् द्विधा ज्ञातं शिक्षां स अभिगच्छति ॥८६॥

: १० :

चातुरङ्गीय-सूत्रम्

चत्वारि परमाङ्गानि दुर्लभानीह जन्तोः ।
मनुष्यत्वं श्रुतिः श्रद्धा संयमे च वीर्यम् ॥८७॥

एकदा क्षत्रियो भवति ततः चाण्डाल बुक्कसः ।
ततः कीट-पतङ्गश्च ततः कुन्थुपिपीलिका ॥८८॥

एवमावर्तयोनिषु प्राणिनः कर्मकिल्विषाः ।
न निर्विन्दन्ति संसारे सर्वार्थेषु व क्षत्रियाः ॥८९॥

कर्मसंगैभिः सम्मूढाः दुःखिताः बहुवेदनाः ।
अमनुष्यासु योनिषु विनिहन्यन्ते प्राणिनः ॥९०॥

कर्मणां तु प्रहाणाय आनुपूर्वी कदाचित् तु ।
जीवाः शोधिमनुप्राप्ता आददन्ति मनुष्यताम् ॥९१॥

मानुषं विग्रहं लब्ध्वा श्रुतिः धर्मस्य दुर्लभा ।
यां श्रुत्वा प्रतिपद्यन्ते तपः क्षान्तिमहिंसितम् ॥९२॥

आहत्य श्रवणं लब्ध्वा श्रद्धा परमदुर्लभा ।
श्रुत्वा नैयायिकं मार्गं बहवः परिभ्रश्यन्ति ॥९३॥

---

१ कान्दसम् । २ नैयायिकात् मार्गात् ।

श्रुतिं च लब्ध्वा श्रद्धां च वीर्यं पुनर् दुर्लभम् ।
बहवः रोचमानाः अपि नो च तत् प्रतिपद्यते ॥९४॥

मनुष्यत्वे आयातः यः धर्मं श्रुत्वा श्रद्धीत ।
तपस्वी वीर्यं लब्ध्वा संवृतः निर्धुनीयात् रजः ॥९५॥

शोधिः ऋजुकभूतस्य धर्मः शुद्धस्य तिष्ठति ।
निर्वाणं परमं याति घृतसिक्तः इव[1] पावकः ॥९६॥

विकृन्त कर्मणः हेतुं यशः संचिनु क्षान्त्या ।
शरीरं पार्थिवं हित्वा ऊर्ध्वं प्रकामति दिशम् ॥९७॥

चतुरङ्गं दुर्लभं मत्वा संयमं प्रतिपद्य ।
तपसा धुतकर्मांशः सिद्धो भवति शाश्वतः ॥९८॥

: ११ :

अप्रमाद-सूत्रम्

असंस्कृतं जीवितं मा प्रमादयेत्
जरोपनीतस्य खलु नास्ति त्राणम् ।
एवं विजानीहि जनान् प्रमत्तान्
किं नु विहिंसाः अयताः गृहीष्यन्ते ! ॥९९॥

ये पापकर्मभिः धनं मनुष्याः
समाददन्ति अमृतं गृहीत्वा ।

---

१ इव अर्थे ।

प्रहाय तान् पाशप्रवर्तितान् नरान्
वैरानुबद्धा नरकम् उपयन्ति ॥१००॥

वित्तेन त्राणं न लभेत् प्रमत्तः
अस्मिन् लोके अदो वा परत्र।
दीपप्रणष्टः वा अनन्तमोहः
नैयायिकं दृष्ट्वा अदृष्ट्वैव ॥१०१॥

स्तेनो यथा सन्धिमुखे गृहीतः
स्वकर्मणा कृत्यते पापकारी।
एवं प्रजाः प्रेत्य इह च लोके
कृतानां कर्मणां न मोक्षः अस्ति ॥१०२॥

संसारमापन्नः परस्य अर्थाय
साधारणं यच्च करोति कर्म।
कर्मणः तव तस्य तु वेदकाले
न बान्धवा बान्धवताम् उपयन्ति ॥१०३॥

सुप्तेषु चापि प्रतिबुद्धजीवी
न विश्वसेत् पण्डितः आशुप्रज्ञः।
घोरा मुहूर्ताः अबलं शरीरं
भारण्डपक्षी व चरेत् अप्रमत्तः ॥१०४॥

---

१ वं।

चरेत् पदानि परिशङ्कमानः
यत् किञ्चित् पाशम् इह मन्यमानः ।
लाभान्तरे जीवितं बृंहयिता
पश्चात् परिज्ञाय मलावध्वंसी ॥१०५॥

छन्दोनिरोधेन उपैति मोक्षम्
अश्वः यथा शिक्षित–वर्मधारी ।
पूर्वाणि वर्षाणि चरेत् अप्रमत्तः
तस्मात् मुनिः क्षिप्रम् उपैति मोक्षम् ॥१०६॥

सः पूर्वमेवं न लभेत पश्चात्
एषोपमा शाश्वतवादिकानाम् ।
विषीदति शिथिले आयुष्के
कालोपनीते शरीरस्य भेदे ॥१०७॥

क्षिप्रं न शक्नोति विवेकम् एतुम्
तस्मात् समुत्थाय प्रहाय कामान् ।
समेत्य लोकं समतया महर्षिः
आत्मानुरक्षी चर अप्रमत्तः ॥१०८॥

मुहुः मुहुः मोहगुणान् जयन्तम्
अनेकरूपाः श्रमणं चरन्तम् ।
स्पर्शाः स्पृशन्ति असमञ्जसं च
न तेषां भिक्षुः मनसा प्रद्विष्यात् ॥१०९॥

मन्दाश्च स्पर्शाः बहुलोभनीयाः
तथाप्रकारेषु मनः न कुर्यात् ।
रक्षेत् क्रोधं विनयेत् मानम्
मायां न सेवेत प्रजह्यात् लोभम् ॥११०॥

ये संस्कृताः तुच्छाः परप्रवादिनः
ते प्रेयो-द्वेषानुगताः परध्याः ।
एते अधर्माः इति जुगुप्समानः
काङ्क्षेत गुणान् यावत् शरीरभेदः ॥१११॥

: ११-२ :

अप्रमाद-सूत्रम्

द्रुमपत्रकं पाण्डुककं यथा, निपतति रात्रिगणानाम् अत्यये ।
एवं मनुजानां जीवितं समयं गौतम ! मा प्रमादयेत् ॥११२॥

कुशाग्रे यथा अवश्यायबिन्दुकः स्तोकं तिष्ठति लम्बमानकः ।
एवं मनुजानां जीवितं समयं गौतम ! मा प्रमादयेत् ॥११३॥

इति इत्वरे आयुष्के जीवितके बहुप्रत्यवायके ।
विधुनीहि रजः पुराकृतं समयं गौतम ! मा प्रमादयेत् ॥११४॥

दुर्लभः खलु मानुषो भवः चिरकालेन अपि सर्वप्राणिनाम् ।
गाढाश्च विपाकाः कर्मणः समयं गौतम ! मा प्रमादयेत् ॥११५॥

एवं भवसंसारे संसरति शुभाशुभैभिः कर्मभिः ।
जीवः प्रमादबहुलः समयं गौतम ! मा प्रमादयेत् ॥११६॥

लब्ध्वा अपि मानुषत्वेनं आर्यत्वं पुनरपि दुर्लभम् ।
बहवः दस्युकाः म्लेच्छकाः समयं गौतम ! मा प्रमादयेत् ॥११७॥

लब्ध्वा अपि आर्यत्वनं अहीनपञ्चेन्द्रियता खलु दुर्लभा ।
विकलेन्द्रियता खलु दृश्यते समयं गौतम ! मा प्रमादयेत् ॥११८॥

अहीनपञ्चेन्द्रियत्वम् अपि स लभेत् उत्तमधर्मश्रुतिः खलु दुर्लभा ।
कुतीर्थिनिषेवकः जनः समयं गौतम ! मा प्रमादयेत् ॥११९॥

लब्ध्वा अपि उत्तमां श्रुतिं श्रद्धना पुनरपि दुर्लभा ।
मिथ्यात्वनिषेवकः जनः समयं गौतम ! मा प्रमादयेत् ॥१२०॥

धर्मम् अपि श्रद्दधतः दुर्लभका कायेन स्पर्शता ।
इह कामगुणेभिः मूर्छिताः समयं गौतम ! मा प्रमादयेत् ॥१२१॥

परिजूरति ते शरीरकं केशाः पाण्डुरका भवन्ति ते ।
तस्य सर्वबलं च हीयते समयं गौतम ! मा प्रमादयेत् ॥१२२॥

अरतिः गण्डम् विषूचिका आतङ्काः विविधाः स्पृशन्ति ते ।
विघटते विध्वंसते ते शरीरकम् समयं गौतम ! मा प्रमादयेत् ॥१२३

व्युच्छिन्द (व्युच्छिन्धि) स्नेहमात्मनः कुमुदं शारदिकं व पानीयम् ।
सः सर्वस्नेहवर्जितः समयं गौतम ! मा प्रमादयेत् ॥१२४॥

---

१ [illegible]

त्यक्त्वा धनं च भार्याम् प्रव्रजितः हि असि अनगारिताम् ।
मा वान्तं पुनरपि आपिबेत् समयं गौतम ! मा प्रमादयेत् ॥१२५॥

उपोज्झ्य मित्रबान्धवं विपुलं चैव धनौघसंचयम् ।
मा तं द्वितीयं गवेषयेत समयं गौतम ! मा प्रमादयेत ॥१२६॥

अबलः यथा भारवाहकः मा मार्गे विषमे अवगाहेत् ।
पश्चात् पश्चानुतापकः समयं गौतम ! मा प्रमादयेत् ॥१२७॥

तीर्णोऽसि अर्णवं महान्तं किं पुनः तिष्ठसि तीरमागतः ! ।
अभित्वर पारं गमितुं समयं गौतम ! मा प्रमादयेत् ॥१२८॥

बुद्धस्य निशम्य भाषितं सुकथितम् अर्थपदोपशोभितम् ।
रागं द्वेषं च छित्वा सिद्धिगतिं गतः गौतमः ॥१२९॥

: १२ :

प्रमादस्थान-सूत्रम्

प्रमादं कर्म आहुः अप्रमादं तथाऽपरम् ।
तद्भावादेशतो वाऽपि बालं पण्डितम् एव वा ॥१३०॥

यथा च अण्डप्रभवा बलाका
अण्डं च बलाकाप्रभवं यथा च ।
एवमेव मोहायतनं खलु तृष्णा
मोहं च तृष्णायतनं वदन्ति ॥१३१॥

---

१ '[illegible]' [illegible] [illegible]।

रागश्च द्वेषः अपि च कर्मबीजम्
कर्म च मोहप्रभवं वदन्ति ।
कर्म च जातिमरणस्य मूलम्
दुःखं च जातिमरणं वदन्ति ॥१३२॥

दुःखं हतं यस्य न भवति मोहः
मोहः हतः यस्य न भवति तृष्णा ।
तृष्णा हता यस्य न भवति लोभः ।
लोभः हतः यस्य न किंचन ॥१३३॥

रसाः प्रकामं न निषेवितव्याः
प्रायः रसाः दीप्तिकराः नराणाम् ।
दीप्तं च कामाः समभिद्रवन्ति
द्रुमं यथा स्वादुफलं न पक्षी ॥१३४॥

रूपेषु यः गृद्धिम् उपैति तीव्रम्
अकालिकं प्राप्नोति स विनाशम् ।
रागातुरः स यथा वा पतङ्गः
आलोकलोलः समुपैति मृत्युम् ॥१३५॥

रूपानुरक्तस्य नरस्य एवं
कुतः सुखं भवेत् कदाचित् ।
तत्रोपभोगेऽपि क्लेशदुःखम्
निर्वर्तते यस्य कृतेन दुःखम् ॥१३६॥

एवमेव रूपे गतः प्रद्वेषम्
उपैति दुःखौघपरम्पराः ।
प्रद्विष्टचित्तश्च चिनोति कर्म
यत् तस्य पुनर् भवति दुःखं विपाके ॥१३७॥

रूपे विरक्तः मनुजः विशोकः
एतेन दुःखौघपरम्परेण ।
न लिप्यते भवमध्येऽपि सन्
जलेन वा पुष्करिणीपलाशम् ॥१३८॥

एवम् इन्द्रियार्थाश्च मनसः अर्थाः
दुःखस्य हेतुम् मनुजस्य रागिणः ।
ते चैव स्तोकम् अपि कदाचित् दुःखम्
न वीतरागस्य करन्ति किञ्चित् ॥१३९॥

न कामभोगाः समताम् उपयन्ति
न चापि भोगाः विकृतिम् उपयन्ति ।
यः तत्प्रद्वेषी च परिग्रही च
स तेषु मोहात् विकृतिम् उपैति ॥१४०॥

अनादिकालप्रभवस्य एषः
सर्वस्य दुःखस्य प्रमोक्षमार्गः ।
व्याख्यातः यं समुपेत्य सत्त्वाः
क्रमेण अत्यन्तसुखिनः भवन्ति ॥१४१॥

: १३ :

कषाय-सूत्रम्

क्रोधश्च मानश्च अनिगृहीताः
माया च लोभश्च प्रवर्धमानाः ।
चत्वारः एते कृत्स्नाः कषायाः
सिञ्चन्ति मूलानि पुनर्भवस्य ॥१४२॥

क्रोधं मानं च मायां च लोभं च पापवर्धनम् ।
वमेत् चतुरः दोषान् तु इच्छन् हितमात्मनः ॥१४३॥

क्रोधः प्रीतिं प्रणाशयति मानः विनयनाशनः ।
माया मित्राणि नाशयति लोभः सर्वविनाशनः ॥१४४॥

उपशमेन हन्यात् क्रोधं मानं मार्दवतया जयेत् ।
मायाम् आर्जवभावेन लोभं संतोषतः जयेत् ॥१४५॥

कृत्स्नमपि यः इमं लोकं प्रतिपूर्णं ददेत एकस्य ।
तेनाऽपि सः न संतुष्येत् इति दुष्पूरकः अयम् आत्मा ॥१४६॥

यथा लाभः तथा लोभः लाभात् लोभः प्रवर्धते ।
द्विमाषकृतं कार्यं कोट्या अपि न निष्ठितम् ॥१४७॥

अधः व्रजन्ति क्रोधेन मानेन अधमा गतिः ।
माया गतिप्रतिघातः लोभात् द्विधा भयम् ॥१४८॥

सुवर्ण-रूप्यस्य तु पर्वताः भवेयुः
स्यात् खलु कैलाससमा असंख्यकाः ।
नरस्य लुब्धस्य न तैभिः किञ्चित्
इच्छा खलु आकाशसमा अनन्तिका ॥१४९॥

पृथिवी शालिः यवाश्चैव हिरण्यं पशुभिस्सह ।
प्रतिपूर्णं नालमेकस्य इति विदित्वा तपश्चरेत् ॥१५०॥

क्रोधं च मानं च तथैव मायाम्
लोभं चतुर्थम् अध्यात्म (अध्यस्त)दोषाः ।
एतानि वान्त्वा अर्हन् महर्षिः
न कुर्वति पापं न कारापयति ॥१५१॥

: १४ :

काम-सुत्तम्

शल्यं कामाः विषं कामाः कामाः आशीविषोपमाः ।
कामान् च प्रार्थयमानाः अकामा यान्ति दुर्गतिम् ॥१५२॥
सर्वं विलपितं गीतं सर्वं नाट्यं विडम्बितम् ।
सर्वे आभरणाः भाराः सर्वे कामाः दुःखावहाः ॥१५३॥

क्षणमात्रसौख्याः बहुकालदुःखाः
प्रकामदुःखा अनिकामसौख्याः ।
संसारमोक्षस्य विपक्षभूताः
खनी अनर्थानां तु कामभोगाः ॥१५४॥

यथा किंपाकफलानां परिणामः न सुन्दरः ।
एवं भुक्तानां भोगानां परिणामः न सुन्दरः ॥१५५॥

यथा च किंपाकफला मनोरमाः
रसेन वर्णेन च भुज्यमानाः ।
ते क्षोदयन्ति जीविते पच्यमानाः
एषोपमा कामगुणा विपाके ॥१५६॥

उपलेपो भवति भोगेषु अभोगी नोपलिप्यते ।
भोगी भ्रमति संसारे अभोगी विप्रमुच्यते ॥१५७॥

चीवराजिनं नाग्न्यं जटित्वम् संघाटिका मुण्डनम् ।
एतानि अपि न त्रायन्ते दुःशीलं पर्यायागतम् ॥१५८॥

ये केचित् शरीरे सक्ताः वर्णे रूपे च सर्वशः ।
मनसा काय-वाक्येन सर्वे ते दुःखसंभवाः ॥१५९॥

अत्येति कालः त्वरन्ते रात्रयः,
न चापि भोगाः पुरुषाणां नित्याः ।
उपेत्य भोगाः पुरुषं त्यजन्ति,
द्रुमं यथा क्षीणफलं व पक्षी ॥१६०॥

अध्रुवं जीवितं ज्ञात्वा सिद्धिमार्गं विज्ञाय ।
विनिवर्तेत भोगेषु आयुः परिमितम् आत्मनः ॥१६१॥

पुरुष ! उपरम पापकर्मणा पर्यन्तं मनुजानां जीवितम् ।
सक्ताः इह काममूर्छिताः मोहं यान्ति नराः असंवृताः ॥१६२॥

संबुध्यध्वं किं न बुध्यध्व,
संबोधिः खलु प्रेत्य दुर्लभा ।
नो खलु उपनमन्ति रात्रयः,
नो सुलभं पुनरपि जीवितम् ॥१६३॥

दुष्परित्यजाः इमे कामाः नो सुजहाः अधीरपुरुषैः ।
अथ सन्ति सुव्रताः साधवः ये तरन्ति अतरं[1] वणिजा इव ॥१६४॥

: १५ :

अशरण-सूत्रम्

वित्तं पशवश्च ज्ञातयः तं बालः शरणम् इति मन्यते ।
एते मम तेषु अपि अहम् नो त्राणं शरणं न विद्यते ॥१६५॥

जन्म दुःखं जरा दुःखं रोगाः मरणानि च ।
अहो ! दुःखः खलु संसारः यत्र क्लिश्यन्ति जन्तवः ॥१६६॥

इदं शरीरम् अनित्यम् अशुचि अशुचिसंभवम् ।
अशाश्वतावासमिदं दुःखक्लेशानां भाजनम् ॥१६७॥

दाराः सुताश्चैव मित्राणि च तथा बान्धवाः ।
जीवन्तमनुजीवन्ति मृतं नानुव्रजन्ति च ॥१६८॥

---

१ अतरं समुद्रम् ।

वेदाः अधीताः न भवन्ति त्राणम्
भुक्ताः द्विजाः नयन्ति तमः तमसा ।
जायाश्च पुत्राः न भवन्ति त्राणम्
कः नाम तान् अनुमन्येत एतत् ॥१६९॥

त्यक्त्वा द्विपदं च चतुष्पदं च
क्षेत्रं गृहं धन-धान्यं च सर्वम् ।
कर्मात्मद्वितीयः अवशः प्रयाति
परं भवं सुन्दरं पापकं वा ॥१७०॥

यथेह सिंहः व मृगं गृहीत्वा
मृत्युः नरं नयति खलु अन्तकाले ।
न तस्य माता वा पिता (प्रिया) वा भ्राता
काले तस्यांशहराः भवन्ति ॥१७१॥

यदिदं जगती पृथक् जगाः कर्मभिः लुप्यन्ते प्राणिनः[1]
स्वयमेव कृतैर्भिर्गाहते नो तस्य मुच्येत अस्पृष्टकम् ॥१७२॥

अशाश्वते शरीरे रतिं नोपलभामि अहम् ।
पश्चात् पुरा वा त्यक्तव्ये फेनबुद्बुदसंनिभे ॥१७३॥

मनुष्यत्वे असारे व्याधि-रोगाणाम् आलये ।
जरामरणग्रस्ते क्षणम् अपि न रमामि अहम् ॥१७४॥

१ आत्मानः ।

जीवितं चव रूपं च विद्युत्संपातचञ्चलम् ।
यत्र त्वं मुह्यसि राजन् ! प्रेत्यार्थम् नावबुध्यसि ॥१७५॥

न तस्य दुःखं विभजन्ति ज्ञातयः
न मित्रवर्गाः न सुताः न बान्धवाः ।
एकः स्वयं प्रत्यनुभवति दुःखम्
कर्तारमेव अनुयाति कर्म ॥१७६॥

न चित्रा त्रायते भाषा कुतः विद्यानुशासनम् ।
विषण्णाः पापकर्मभिः बालाः पण्डितमानिनः ॥१७७॥

: १६ :

बाल-सूत्रम्

भोगामिषदोषविषण्णः हितनिःश्रेयसबुद्धित्यक्तार्थः ।
बालश्च मन्दकः मूढः बध्यते मक्षिका व श्लेष्मणि ॥१७८॥

यः गृद्धः कामभोगेषु एकः कूटाय गच्छति ।
न मे दृष्टः परो लोकः चक्षुर्दृष्टा इयं रतिः ॥१७९॥

हस्तागता इमे कामाः कालिका ये अनागताः ।
को जानाति परो लोकः अस्ति वा नास्ति वा पुनः ! ॥१८०॥

जनेन सार्धं भविष्यामि इति बालः प्रगल्भति ।
कामभोगानुरागेण क्लेशं संप्रतिपद्यते ॥१८१॥

ततः स दण्डं समारभते त्रसेषु स्थावरेषु च।
अर्थाय च अनर्थाय भूतग्रामं विहिंसति ॥१८२॥

हिंस्रः बालः मृषावादी मायिलः पिशुनः शठः।
भुञ्जानः सुरां मांसं श्रेयः एतत् इति मन्यते ॥१८३॥

कायशः (कायेन) वचसा मत्तः वित्ते गृद्धश्च स्त्रीषु।
द्विधा मलं संचिनोति शिशुनाग इव मृत्तिकाम् ॥१८४॥

ततः स्पृष्ट आतङ्केन ग्लानः परितप्यति।
प्रभीतः परलोकस्य कर्मानुप्रेक्षी आत्मनः ॥१८५॥

ये केचित् बाला इह जीवितार्थिनः
पापानि कर्माणि करन्ति रुद्राः।
ते घोररूपे तमिस्र-अन्धकारे
तीव्राभितापे नरके पतन्ति ॥१८६॥

यदा च त्यजति धर्मं अनार्यः भोगकारणात्।
स तत्र मूर्छितः बालः आयतिं नावबुध्यति ॥१८७॥

नित्योद्विग्नः यथा स्तेनः आत्मकर्मभिर्दूयते।
तादृशः मरणान्तेऽपि नारोहति संवरम् ॥१८८॥

यः कश्चिद् प्रव्रजितः निद्राशीलः प्रकामशः।
भुक्त्वा पीत्वा सुखं स्वपिति पापश्रमण इति उच्यते ॥१८९॥

वैराणि कुर्वति वैरी ततः वैरेभिः रज्यते ।
पापोपगाश्च आरम्भा दुःखस्पर्शाश्च अन्तशः ॥१९०॥

मासे मासे तु यः बालः कुशाग्रेण तु भुङ्क्ते ।
न स सुआख्यातधर्मस्य कलामर्घति षोडशीम् ॥१९१॥

इह जीवितं अनियम्य प्रभ्रष्टाः समाधियोगेभिः ।
ते कामभोगरसगृद्धा उपपद्यन्ते आसुरे काये ॥१९२॥

यावन्तोऽविद्यापुरुषाः सर्वे ते दुःखसंभवाः ।
लुप्यन्ते बहुशो मूढाः संसारे अनन्तके ॥१९३॥

बालानाम् अकामं तु मरणम् असकृद् भवेत् ।
पण्डितानां सकामं तु उत्कृष्टेन सकृद् भवेत् ॥१९४॥

बालस्य पश्य बालत्वं अधर्मं प्रतिपद्य ।
त्यक्त्वा धर्मम् अधर्मिष्ठः नरके उपपद्यते ॥१९५॥

धीरस्य पश्य धीरत्वं सत्यधर्मानुवर्तिनः ।
त्यक्त्वा अधर्मं धर्मिष्ठः देवेषु उपपद्यते ॥१९६॥

तुलयित्वा बालभावम् अबालं चैव पण्डितः ।
त्यक्त्वा बालभावं अबालं सेवते मुनिः ॥१९७॥

: १७ :

पण्डित-सूत्रम्

समीक्ष्य पण्डितः तस्मात् पाशजातिपथान् बहून् ।
आत्मना सत्यमेषयेत् मैत्रीं भूतेषु कल्पयेत् ॥१९८॥

यश्च कान्तान् प्रियान् भोगान् लब्धानपि पृष्ठीकुर्वति ।
स्वाधीनान् त्यजति भोगान् स खलु त्यागीति उच्यते ॥१९९॥

वस्त्रगन्धमलंकारं स्त्रीः सदनानि च (शयनानि च)।
अच्छन्दा ये न भुञ्जते न ते त्यागिन इति उच्यते ॥२००॥

दभ्रान च प्राणान् वृद्धांश्च प्राणान्
तान् आत्मतः पश्यति सर्वलोके ।
उद्वेक्षते लोकमिमं महान्तं
बुद्धः प्रमत्तेषु परिव्रजेत् ॥२०१॥

यः ममायितमतिं जहाति स जहाति ममायितम् ।
सः खलु दृष्टभयः मुनिः यस्य नास्ति ममायितम् ॥२०२॥

यथा कूर्मः स्वअङ्गानि स्वके देहे समाहरेत् ।
एवं पापानि मेधावी अध्यात्मना समाहरेत् ॥२०३॥

यः सहस्रं सहस्राणां मासे मासे गवां दद्येत् ।
तस्यापि संयमः श्रेयान् अददतः अपि किञ्चन ॥२०४॥

ज्ञानस्य सर्वस्य प्रकाशनया
अज्ञानमोहस्य विवर्जनया ।
रागस्य द्वेषस्य च संक्षयेण
एकान्तसौख्यं समुपैति मोक्षम् ॥२०५॥

तस्यैष मार्गः गुरुवृद्धसेवा
विवर्जना बालजनस्य दूरात् ।
स्वाध्यायएकान्तनिषेवणा च
सूत्रार्थसंचिन्तनता धृतिश्च ॥२०६॥

आहारम् इच्छेत् मितम् एषणीयम् ।
सहायम् इच्छेत् निपुणार्थबुद्धिम् ।
निकेतम् इच्छेत् विवेकयोग्यम्
समाधिकामः श्रमणः तपस्वी ॥२०७॥

न वा लभेत निपुणं सहायं
गुणाधिकं वा गुणतः समं वा ।
एकोऽपि पापानि विवर्जयन्
विहरेत् कामेषु असज्जमानः ॥२०८॥

जातिं च वृद्धिं च इहाद्य पश्य
भूतैः सातं (साकं) प्रतिलेख्यं जानीयात् ।

तस्मात् अतिविद्यः परमम् इति ज्ञात्वा
सम्यक्त्वदर्शी न करोति पापम् ॥२०९॥

न कर्मणा कर्म क्षपयन्ति बालाः
अकर्मणा कर्म क्षपयन्ति धीराः ।
मेधाविनः लोभ-भयात् व्यतीताः
संतोषिणः न प्रकुर्वन्ति पापम् ॥२१०॥

: १८ :

आत्म-सूत्रम्

आत्मा नदी वैतरणी आत्मा मम कूटशाल्मलिः ।
आत्मा कामदुधा धेनुः आत्मा मे नन्दनं वनम् ॥२११॥

आत्मा कर्ता विकर्ता च दुःखानां च सुखानां च ।
आत्मा मित्रम् अमित्रं च दुष्प्रस्थितः सुप्रस्थितः ॥२१२॥

आत्मा चैव दमितव्यः आत्मा हु खलु दुर्दमः ।
आत्मा दान्तः सुखी भवति अस्मिन् लोके परत्र च ॥२१३॥

वरं मम आत्मा दान्तः संयमेन तपसा च ।
माऽहं परैर्दम्यमानः बन्धनैर्वधैश्च ॥२१४॥

यः सहस्रं सहस्राणां संग्रामे दुर्जयान् जयेत् ।
एकं जयेत् आत्मानम् एष तस्य परमो जयः ॥२१५॥

आत्मानमेव युध्यस्व किं ते युद्धेन बाह्यतः ।
आत्मनैव . आत्मानं जित्वा सुखमेधते ॥२१६॥

पञ्चेन्द्रियाणि क्रोधं मानं मायां तथैव लोभं च ।
दुर्जयं चैव आत्मानं सर्वमात्मनि जिते जितम् ॥२१७॥

न तत् अरिः कण्ठछेत्ता करोति
यत् स करोत आत्मना दुरात्मा ।
स ज्ञास्यति मृत्युमुखं तु प्राप्तः
पश्चानुतापेन दयाविहीनः ॥२१८॥

यस्यैवमात्मा तु भवेत् निश्चितः
त्यजेत् देहं न खलु धर्मशासनम् ।
तं नादृशा नो प्रचालयन्ति इन्द्रियाणि
उपयन्ति वाता व सुदर्शनं गिरिम ॥२१९॥

आत्मा हु खलु सततं रक्षितव्यः
सर्वेन्द्रियेभिः सुसमाहितेभिः ।
अरक्षितः जातिपथम् उपैति
सुरक्षितः सर्वदुःखानां मुच्यते ॥२२०॥

शरीरमाहु नावा इति जीवः उच्यते नाविकः ।
संसारः अर्णवः उक्तः यं तरन्ति महर्षयः ॥२२१॥

---

१ सर्वदुःखेभ्यः ।

य: प्रव्रजित्वान महाव्रतानि
सम्यक् च नो स्पर्शयति प्रमादात् ।
अनिग्रहात्मा च रसेषु गृद्धः
न मूलतः छिन्दति बन्धनं सः ॥२२२॥

: १९ :

लोकतत्त्व-सूत्रम्

धर्मः अधर्मः आकाशः कालः पुद्गला जन्तवः ।
एष लोक इति प्रज्ञप्तो जिनैर्भिर्वरदर्शिभिः ॥२२३॥
गतिलक्षणो धर्मः अधर्मः स्थानलक्षणः ।
भाजनं सर्वद्रव्याणां नभः अवगाहलक्षणम् ॥२२४॥
वर्तनालक्षणः कालो जीव उपयोगलक्षणः ।
ज्ञानेन दर्शनेन च सुखेन च दुःखेन च ॥२२५॥
ज्ञानं च दर्शनं चैव चरित्रं च तपस्तथा ।
वीर्यम् उपयोगश्च एतद् जीवस्य लक्षणम् ॥२२६॥
शब्द-अन्धकार-उद्द्योतः प्रभा छाया-आतप इति वा ।
वर्ण-रस-गन्ध-स्पर्शाः पुद्गलानां तु लक्षणम् ॥२२७॥
जीवा-ऽजीवाश्च बन्धश्च पुण्यं पापा-ऽऽस्रवस्तथा ।
संवरो निर्जरा मोक्षः सन्त्येते तथ्या नव ॥२२८॥

---

१ तथ्यानि—तत्त्वानि ।

तथ्यानां तु भावानां सद्भावे उपदेशनम् ।
भावेन श्रद्दधतः सम्यक्त्वं तद् व्याख्यातम् ॥२२९॥

ज्ञानेन जानाति भावान् दर्शनेन च श्रद्दधीत ।
चरित्रेण निगृह्णाति तपसा परिशुध्यति ॥२३०॥

ज्ञानं च दर्शनं चैव चरित्रं च तपस्तथा ।
एतं मार्गमनुप्राप्ता जीवा गच्छन्ति सुगतिम् ॥२३१॥

तत्र पञ्चविधं ज्ञानं श्रुतम् आभिनिबोधिकम् ।
अवधिज्ञानं तु तृतीयं मनोज्ञानं च केवलम् ॥२३२॥

ज्ञानस्यावरणीयं दर्शनावरणं तथा ।
वेदनीयं तथा मोह आयुःकर्म तथैव च ॥२३३॥

नामकर्म च गोत्रं च अन्तरायस्तथैव च ।
एवमेतानि कर्माणि अष्टैव तु समासतः ॥२३४॥

तत् तपः द्विविधम् उक्तम् बाह्य-अभ्यन्तरं तथा ।
बाह्यं षड्विधं प्रोक्तम् एवमभ्यन्तरं तपः ॥२३५॥

अनशनमूनोदरिका भिक्षाचर्या रसपरित्यागः ।
कायक्लेशः संलीनता च बाह्यं तपो भवति ॥२३६॥

प्रायश्चित्तं विनयः वैयावृत्त्यं तथैव स्वाध्यायः ।
ध्यानं च व्युत्सर्गः एतत् अभ्यन्तरं तपः ॥२३७॥

कृष्णा नीला च कापोती च तेजः पद्मा तथैव च।
शुक्ललेश्या च षष्ठी नामानि तु यथाक्रमम् ॥२३८॥
कृष्णा नीला कापोती तिस्रोऽपि एता अधर्मलेश्याः।
एताभिस्तिसृभिरपि जीवः दुर्गतिम् उपपद्यते ॥२३९॥
तेजः पद्मा शुक्ला तिस्रोऽपि एता धर्मलेश्याः।
एताभिस्तिसृभिरपि जीवः सुगतिम् उपपद्यते ॥२४०॥
अष्ट प्रवचनमातरः समितिः गुप्तिस्तथैव च।
पञ्चैव च समितयः तिस्रो गुप्तयः आख्याताः ॥२४१॥
ईर्याभाषैषणाऽऽदाने उच्चारे समितिः इति।
मनोगुप्तिः वचोगुप्तिः कायगुप्तिश्च अष्टमी ॥२४२॥
एताः पञ्च समितयः चरणस्य च प्रवर्तने।
गुप्तयः निवर्तने प्रोक्ता अशुभार्थेषु सर्वशः ॥२४३॥
एता प्रवचनमातृः यः सम्यक् आचरेत् मुनिः।
सः क्षिप्रं सर्वसंसारात् विप्रमुच्यते पण्डितः ॥२४४॥

: २० :

पूज्य-सूत्रम्

आचार-अर्थं विनयं प्रयुञ्जीत
शुश्रूषमाणः परिगृह्य वाक्यम्।

यथोपदिष्टम् अभिकाङ्क्षमाणः
गुरुं तु नाशातयति स पूज्यः ॥२४५॥

अज्ञातउञ्छं चरति विशुद्धम्
यापनार्थाय समुदानं च नित्यम् ।
अलब्ध्वा नो परिदेवयेत्
लब्ध्वा न विकत्थते स पूज्यः ॥२४६॥

संस्तारशय्यासनभक्तपाने
अल्पेच्छता अतिलाभेऽपि सति ।
य एवमात्मानम् अभितोषयेत्
संतोषप्राधान्यरतः स पूज्यः ॥२४७॥

शक्याः सहेतुम् आशया कण्टकाः
अयोमया उत्सहता नरेण ।
अनाशया यस्तु सहेत कण्टकान्
वचोमयान् कर्णशरान् स पूज्यः ॥२४८॥

समापतन्तः वचनाभिघाताः
कर्णं गता दुर्मनस्तां जनयन्ति ।
धर्म इति कृत्वा परमाग्रशूरः
जितेन्द्रियः यः सहते स पूज्यः ॥२४९॥

अवर्णवादं च पराङ्मुखस्य
प्रत्यक्षतः प्रत्यनीकां च भाषाम् ।
अवधारिणीम् अप्रियकारिणीं च
भाषां न भाषेत सदा स पूज्यः ॥२५०॥

अलोलुपः अकूहकः अमायी
अपिशुनः चापि अदीनवृत्तिः ।
नो भावयते नोऽपि च भावितात्मा
अकुतूहलश्च सदा स पूज्यः ॥२५१॥

गुणैः साधुः अगुणैरसाधुः
गृहाण साधून् गुणान् मुञ्च असाधून् ।
विजानीयात् आत्मकमात्मकेन
यः रागद्वेषाभ्यां समः स पूज्यः ॥२५२॥

तथैव दभ्रं च महान्तं वा
स्त्रियं पुमांसं प्रव्रजितं गृहिणं वा ।
नो हीलयेत् नोऽपि च खिंसयेत्
स्तम्भं च क्रोधं च त्यजेत् स पूज्यः ॥२५३॥

तेषां गुरूणां गुणसागराणाम्
श्रुत्वा मेधावी सुभाषितानि ।

चरेत् मुनिः पञ्चरतः त्रिगुप्तः
चतुष्कषायापगतः स पूज्यः ॥२५४॥

: २१ :

ब्राह्मण-सूत्रम्

यः न सजति आगन्तुं प्रव्रजन् न शोचते ।
रमते आर्यवचने तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥२५५॥

जातरूपं यथामृष्टं निर्ध्मातमलपापकम् ।
रागद्वेषभयातीतं तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥२५६॥

तपस्विकं कृशं दान्तं अपचितमांसशोणितम् ।
सुव्रतं प्राप्तनिर्वाणं तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥२५७॥

त्रसप्राणान् विज्ञाय संग्रहेण च स्थावरान् ।
यो न हिंसति त्रिविधेन तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥२५८॥

क्रोधात् वा यदि वा हासात् लोभाद् वा यदि वा भयात् ।
मृषा न वदति यस्तु तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥२५९॥

चित्तवन्तमचित्तं वा अल्पं वा यदि वा बहुम् ।
न गृह्णाति अदत्तं यः तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥२६०॥

दिव्य-मानुष-तैरिश्चं यो न सेवते मैथुनम् ।
मनसा काय-वाक्येन तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥२६१॥

यथा पद्मं जले जातं नोपलिप्यते वारिणा ।
एवम् अलिप्तं कामेभिः तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥२६२॥

अलोलुपं मुधाजीविनम् अनगारम् अकिञ्चनम् ।
असंसक्तं गृहस्थेषु तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥२६३॥

हित्वा पूर्वसंयोगं ज्ञातिसंगांश्च बान्धवान् ।
यो न सज्जति भोगेषु तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥२६४॥

नापि मुण्डितेन श्रमणः न ओंकारेण ब्राह्मणः ।
न मुनिः अरण्यवासेन कुशचीवरेण न तापसः ॥२६५॥

समतया (शमनः) श्रमणः भवति ब्रह्मचर्येण ब्राह्मणः ।
ज्ञानेन मुनिः भवति तपसा भवति तापसः ॥२६६॥

कर्मणा ब्राह्मणः भवति कर्मणा भवति क्षत्रियः ।
वैश्यः कर्मणा भवति शूद्रो भवति कर्मणा ॥२६७॥

एवं गुणसमायुक्ताः ये भवन्ति द्विजोत्तमाः ।
ते समर्थाः समुद्धर्तुं परम् आत्मानमेव च ॥२६८॥

: २२ :

भिक्षु-सूत्रम्

रोचितज्ञातपुत्रवचनः
आत्मसमान् मन्येत षडपि कायान् ।

पञ्च च स्पृशेत् महाव्रतानि
पञ्चास्रवसंवरान् यः स भिक्षुः ॥२६९॥

चतुरः वमेत् सदा कषायान्
ध्रुवयोगी च भवेत् बुद्धवचने ।
अधनः निर्जातरूप–रजतः
गृहियोगं परिवर्जयेत यः स भिक्षुः ॥२७०॥

सम्यग्दृष्टिः सदा अमूढः
अस्ति खलु ज्ञानं तपः--संयमे च ।
तपसा धुनाति पुराण--पापकम्
मनो-वचः-कायसुसंवृतः यः स भिक्षुः ॥२७१॥

न च व्युदग्रहीनां कथां कथयेत्
न च कुप्येत् निभृतेन्द्रियः प्रशान्तः ।
संयमध्रुवयोगयुक्तः
उपशान्तः अविहेठकः यः स भिक्षुः ॥२७२॥

यः सहते खलु ग्रामकण्टकान्
आक्रोश–प्रहार--तर्जनाश्च ।
भयभैरवशब्दसप्रहासान्
समसुखदुःखसहः यः स भिक्षुः ॥२७३॥

अभिभूय कायेन परीषहान्
समुद्धरेत् जातिपथात् आत्मकम् ।
विदित्वा जातिमरणं महाभयं
तपसि रतः श्रामणिकः यः स भिक्षुः ॥२७४॥

हस्तसंयतः पादसंयतः
वाचासंयतः संयतेन्द्रियः ।
अध्यात्मरतः सुसमाहितात्मा
सूत्रार्थं च विजानाति यः स भिक्षुः ॥२७५॥

उपधौ अमूर्छितः अगृद्धः
अज्ञातउञ्छं पुलनिष्पुलाकः ।
क्रय-विक्रय-सन्निधितो विरतः
सर्वसंगापगतश्च यः स भिक्षुः ॥२७६॥

अलोलः भिक्षुः न रसेषु गृद्धः
उञ्छं चरेत् जीवितं नाभिकाङ्क्षेत् ।
ऋद्धिं च सत्कारण-पूजनं च
त्यजेत् स्थितात्मा अनीहः यः स भिक्षुः ॥२७७॥

न परं वदेत् 'अयं कुशीलः'
येन च कुप्येत् न तत् वदेत् ।

ज्ञात्वा प्रत्येकं पुण्य-पापं
आत्मानं न समुत्कर्षेत् यः स भिक्षुः ॥२७८॥

न जातिमत्तः न च रूपमत्तः
न लाभमत्तः न श्रुतेन मत्तः ।
मदान् सर्वान् विवर्जयन्
धर्मध्यानरतः यः स भिक्षुः ॥२७९॥

प्रवेदयते आर्यपदं महामुनिः
धर्मे स्थितः स्थापयति परमपि ।
निष्क्रम्य वर्जयेत् कुशीललिङ्गम्
न चापि हासकुहकः यः स भिक्षुः ॥२८०॥

तं देहवासम् अशुचिम् अशाश्वतम्
सदा त्यजेत् नित्यहितस्थितात्मा ।
छित्त्वा जाति-मरणस्य बन्धनं
उपैति भिक्षुः अपुनरागमां गतिम् ॥२८१॥

: २३ :

मोक्षमार्ग-सूत्रम्

कथं चरेत् ? कथं तिष्ठेत् ? कथमासीत ? कथं शयीत ? ।
कथं भुञ्जानः भाषमाणः पापं कर्म न बध्नाति ? ॥२८२॥

यतं चरेत् यतं तिष्ठेत् यतमासीत यतं शयीत ।
यतं भुञ्जानः भाषमाणः पापं कर्म न बध्नाति ॥२८३॥

सर्वभूतात्मभूतस्य सम्यग् भूतानि पश्यतः ।
पिहितास्रवस्य दान्तस्य पापं कर्म न बध्नाति ॥२८४॥

प्रथमं ज्ञानं ततः दया एवं तिष्ठति सर्वसंयतः ।
अज्ञानी किं करिष्यति किंवा ज्ञास्यति छेक-पापकम् ॥२८५॥

श्रुत्वा जानाति कल्याणं श्रुत्वा जानाति पापकम् ।
उभयमपि जानाति श्रुत्वा यत् छेकं तत् समाचरेत् ॥२८६॥

यः जीवानपि न जानाति अजीवानपि न जानाति ।
जीवाजीवान् अजानन् कथं स ज्ञास्यति संयमम् ॥२८७॥

यः जीवानपि विजानाति अजीवानपि विजानाति ।
जीवाजीवान् विजानन् स खलु ज्ञास्यति संयमम् ॥२८८॥

यदा जीवम् अजीवांश्च द्वौ अपि एतौ विजानाति ।
तदा गतिं बहुविधां सर्वजीवानां जानाति ॥२८९॥

यदा गतिं बहुविधां सर्वजीवानां जानाति ।
तदा पुण्यं च पापं च बन्धं मोक्षं च जानाति ॥२९०॥

यदा पुण्यं च पापं च बन्धं मोक्षं च जानाति ।
तदा निर्विन्दते भोगान् यान् दिव्यान् यान् च मानुषान् ॥२९१॥

यदा निर्विन्दते भोगान् यान् दिव्यान् यान् च मानुषान् ।
तदा त्यजति संयोगं साभ्यन्तर-बाह्यम् ॥२९२॥

यदा त्यजति संयोगं साभ्यन्तर-बाह्यम् ।
तदा मुण्डो भवित्वान प्रव्रजति अनगारिताम् ॥२९३॥

यदा मुण्डो भवित्वान प्रव्रजति अनगारिताम् ।
तदा संवरमुत्कृष्टं धर्मं स्पृशेत् अनुत्तरम् ॥२९४॥

यदा संवरमुत्कृष्टं धर्मं स्पृशेत् अनुत्तरम् ।
तदा धुनाति कर्मरजः अबोधिकलुषं कृतम् ॥२९५॥

यदा धुनाति कर्मरजः अबोधिकलुषं कृतम् ।
तदा सर्वत्रगं (सर्वात्मकं) ज्ञानं दर्शनं चाभिगच्छति ॥ २९६॥

यदा सर्वत्रगं (सर्वात्मकं) ज्ञानं दर्शनं चाभिगच्छति ।
तदा लोकमलोकं च जिनो जानाति केवली ॥२९७॥

यदा लोकमलोकं च जिनो जानाति केवली ।
तदा योगान् निरुध्य शैलेशीं प्रतिपद्यते ॥२९८॥

तदा योगान् निरुध्य शैलेशीं प्रतिपद्यते ।
तदा कर्म क्षपयित्वा सिद्धिं गच्छति नीरजाः ॥२९९॥

यदा कर्म क्षपयित्वान सिद्धिं गच्छति नीरजाः ।
तदा लोकमस्तकस्थः सिद्धो भवति शाश्वतः ॥३००॥

सुखसातकस्य श्रमणस्य साताकुलकस्य निकामशायिनः।
उच्छोलनाप्रधाविनः दुर्लभा सुगतिस्तादृशकस्य ॥२०१॥

तपोगुणप्रधानस्य ऋजुमतिक्षान्तिसंयमरतस्य।
परीषहान् जयतः सुलभा सुगतिस्तादृशकस्य ॥२०२॥

: २४ :

जातिमदनिवारण-सूत्रम्

(गद्य)

एकैकः खलु जीवः अतीताद्धायाम असकृत् उच्चगोत्रः असकृत् नीचगोत्रः

नो हीनः नो अतिरिक्तः इति संख्याय कः गोत्रवादी? कः मानवादी? कस्मिन् वा एकः गृध्येत? तस्मात् पण्डितः नो हृष्येत् नो क्रुध्येत्।

भूतेभिः जानीयात् प्रतिलिख्य (प्रतिलेख्याम्) सातं (साकम्) समितः एतदनुपश्यी ॥२०३॥

यः ब्राह्मणः क्षत्रियजातकः वा,
तथा उग्रपुत्रः तथा लिच्छविर्वा।
यः प्रव्रजितः परदत्तभोजी,
गोत्रे न यः स्तभ्नाति मानबद्धः ॥२०४॥

यथापि आत्मानं वसुमन्तमिति मत्वा,
संख्यातवन्तम् आत्मानं अपरीक्ष्य कुर्यात् ।
तपसा वाऽहं सहित इति मत्वा,
अन्यं जनं पश्यति बिम्बभूतम् ॥२०५॥

न तस्य जातिः वा कुलं वा त्राणम्,
नान्यत्र विद्या-ऽऽचरणं सुचीर्णम् ।
निष्क्रम्य स सेवते अगारिकर्म,
न स पारगः भवति विमोचनाय ॥२०६॥

निष्किञ्चनः भिक्षुः सुरूक्षजीवी,
यः गौरववान् भवति श्लोककामी ।
आजीवमेतं तु अबुध्यमानः,
पुनः पुनः विपर्यासम् उपैति ॥२०७॥

प्रज्ञामदं चैव तपोमदं च,
निर्णामयेत् गोत्रमदं च भिक्षुः ।
आजीवकं चैव चतुर्थमाहुः,
स पण्डितः उत्तमपुद्गलः सः ॥२०८॥

एतान् मदान् विकृन्त धीर !,
न तान् सेवन्ते सुधीरधर्माः ।

ते सर्वगोत्रापगता महर्षयः
उच्चाम् अगोत्राम् च गतिं व्रजन्ति ॥३०९॥

: २५ :

क्षामणा-सूत्रम्

सर्वस्य जीवराशेः भावतो धर्मनिहितनिजचित्तः ।
सर्वान् क्षमापयित्वा क्षमे सर्वस्य अहकमपि ॥३१०॥
सर्वस्य श्रमणसंघस्य भगवतः अञ्जलिं कृत्वा शीर्षे ।
सर्वान् क्षमापयित्वा क्षमे सर्वस्य अहकमपि ॥३११॥

आचार्यान् उपाध्यायान् शिष्यान् साधर्मिकान् कुल-गणांश्च ।
ये मम केऽपि कषायाः सर्वान् त्रिविधेन क्षमयामि ॥३१२॥

क्षमयामि सर्वान् जीवान् सर्वे जीवाः क्षमन्ताम् मम ।
मैत्री मे सर्वभूतेषु वैरं मम न केनचित् ॥३१३॥

यत् यत् मनसा बद्धं यत् यत् वाचया भाषितं पापम् ।
यत् यत् कायेन कृतं मिथ्या मे दुष्कृतं तस्य ॥३१४॥